

व्याप्तिनिर्णय : - एक अध्ययन

[दिल्ली विश्वविद्यालय की एम० फिल्० (संस्कृत) उपाधि के लिए प्रस्तुत
लघु शोध-प्रबन्ध]

लेखिका
ललित कुमारी गुप्ता

निर्देशक

डॉ० हर्ष कुमार

एम० ए०, पी-एच० डी०, दर्शनाचार्य, व्याकरणशीर्ष,
प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग
सेन्ट स्टीफन्स महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संस्कृत-विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१९६४

व्याप्तिनिर्णय : - एक अध्ययन

[दिल्ली विश्वविद्यालय की एम०फिल्० (संस्कृत) उपाधि के लिए प्रस्तुत
लघु शोध-प्रबन्ध]

प्रस्तुतकर्त्री
ललिता कुमारी जुनेजा

निर्देशक
डॉ० हर्ष कुमार
एम० ए०, पी-एच० डी०, दर्शनाचार्य, व्याकरणतीय,
प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग
सेन्ट स्टीफन्स महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१९८४

विज्ञप्ति
=====

"व्याप्तिनिर्णयः - एक अध्ययन" शीर्षक लघु-शोध-ग्रन्थ
डा० हर्ष कुमार, प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग, सेंट स्टीफन्स कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के निदेशन में लिखा गया है। इसकी
लेखिका यह घोषित करती है कि यह शोध उसका मौलिक कार्य है
और शोध-कार्य के रूप में इसका प्रस्तुतिकरण और प्रकाशन संपूर्णतः
या अंशतः कहीं नहीं किया गया है।

हर्ष कुमारः
निदेशक

पतिता कुमारी गुप्ता
प्रस्तुतकर्ता

6-9-84
दिनांक

Rvghd
6/9/84
विभागाध्यक्ष

"प्राक्कथन" =====

"व्याप्तिनिर्णय :- एक अध्ययन" नामक इस लघु-शोध-ग्रन्थ में मैंने बौद्ध व न्याय-बौद्धिक तथा पूर्व मीमांसा दर्शनों के बीच हुए व्याप्तिविषयक विवाद की जलक दिखाने का लघु प्रयास किया है। ग्रीष्मकालीन अवकाश के अवकाल में मैंने अपने इस लघु-शोध-ग्रन्थ को सम्बन्ध दार्शनिक विचारों से भरपूर करने का यथासंभव प्रयास किया है। प्रमाण-शास्त्र के विकास में बौद्ध तथा न्याय-बौद्धिक वास्तिक दर्शनों के विवाद पर जो अनावधि अध्ययन, शोध आदि हुए हैं, वे प्रायः विश्वनाथ, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्यों तक ही सीमित रहे हैं। परन्तु प्रज्ञाकर गुप्त, ज्ञानपीथिक, रत्नकीर्ति आदि की रचनाएं अभी तक कुछ उदात्त सी रही हैं। उनमें अध्ययन, अनुवाद आदि की विशाल संभावनाएं हैं। यद्यपि इतिहास बौद्ध नैयायिक रत्नकीर्ति के इस "व्याप्तिनिर्णयः" नामक निबन्ध पर कोई टीका भी उपलब्ध न हो सकी, तथापि अपने आदरणीय निदेशक डा० हर्षकुमार जी के सहयोग अथवा उनकी प्रेरणा से मुझे इस कार्य को करने में किसी भी बाधा का सामना नहीं करना पड़ा तथा मैंने यथाशक्य इस निबन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इसके लिए मैं अपने गुरुजी एवं निदेशक डा० हर्षकुमार जी के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हूँ तथा सदैव उनकी श्रुति रहूँगी। प्रस्तुत लघु-शोध-ग्रन्थ में मुख्य रूप से "व्याप्तिनिर्णयः" नामक निबन्ध की व्याख्या तथा तुलनात्मक दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है, तथापि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा नहीं की गई है।

विशाल-स्तर पर "संस्कृत" विषय में रुचि बढ़ाने तथा उच्च-शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा देने का सारा श्रेय मेरे पूज्य गुरुजी "श्री मेजराम कटारा "पद्मक" व्याख्याता, संस्कृत, राज० उ० मा० वि० ब्याना, भरतपुर [राजस्थान]" को जाता है। तत्पश्चात् "दर्शन" के क्षेत्र में मेरी रुचि सर्वप्रथम "प्रो० रामचन्द्र डिबेदी, विभागाध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर" एवं "डा० अयाना भटनागर, सी० डी०, संस्कृत-विभाग, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर" के प्रयत्नों से हुई। अपने इन दोनों गुरुजनों की प्रेरणा एवं समुचित अध्यापन से "दर्शन" के क्षेत्र में मेरी आगे बढ़ने की इच्छा जाग्रत हुई।

इसके अतिरिक्त मुझे उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा देने में "डा० हरीरामाचार्यः, रीडर, संस्कृत-विभाग, राज० विश्व" एवं मेरे पितृतुल्य अध्यापक "श्री शिवसिंह कुशवाहा, प्रधानाध्यापक, राज० माध्य० विद्यालय, जमुपुरा, धौलपुर {राज०}" का भी बहुत हाथ रहा है। इसलिए अपने इस लघु-शोध-प्रबन्ध को लिखने में अप्रत्यक्ष रूप से इन सभी गुरुजन का सहयोग समझते हुए, मैं इन आचार्यों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ तथा सदैव कृतज्ञ रहूँगी।

माता-पिता तथा अन्य पारिवारिक-जन का सहयोग तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित है ही और वह मुझे मिला भी। इसलिए पारिवारिक-जन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मात्र औपचारिकता होगी।

इसके अतिरिक्त इस कार्य में मुझे "डा० वाचस्पति उपाध्याय, रीडर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय" एवं "डा० सत्यपाल नारंग, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्व०" का भी अत्यन्त सहयोग मिला। अपने विभागाध्यक्ष "डा० रसिक बिहारी जोशी" से भी मुझे कार्य करने में प्रोत्साहन मिला। इसलिए इन गुरुजन के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने समुचित पथ-प्रदर्शन करके कार्य को पूर्ण करवाने में यथासंभव सहयोग दिया।

जी - ९, मुखराम-गार्डन
तिलक-नगर, नई दिल्ली,
1100०8.

निवेदिका

ललिता कुमारी जुनेजा

#6.७.84

विष्णुानुक्रमिका

=====

पृ० सं०

1.	भूमिका	1 - 13
2.	प्रथम अध्याय "दिङ्नाग सम्प्रदाय में अनुमान विवेचन	14- 29
3.	द्वितीय अध्याय "न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा में अनुमान विवेचन	30- 41
4.	तृतीय अध्याय बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक एवं पूर्व- ^{दशनि} मीमांसा/के अनुमान-विष्णुक विचारों की तुलना "	42- 52
5.	चतुर्थ अध्याय रत्नकीर्ति से पूर्व व्याप्तिविष्णुक विवाद	53- 62
6.	पञ्चम अध्याय रत्नकीर्ति का व्याप्तिनिर्णयः	63- 89
7.	उपसंहार	90- 96
8.	ग्रन्थ-सूची	97- 98

भूमिका

रत्नकीर्ति से पूर्व बौद्ध न्याय :-

भगवान् बुद्ध § 570 ई० पू० से 490 ई०पू० तक §

ने चार आर्य सत्या की खोज की थी- दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और निरोधोपाय। इन चार आर्य सत्या को उन्होंने लोगों को उनकी अपनी भाषा में समझाया था। जहाँ एक ओर इनकी शिक्षाओं में जीवन तथा जगत् की चर्चा थी, वहाँ दूसरी ओर "दर्शन" के सङ्केत भी थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बौद्ध-धर्म के साथ ही बौद्ध-दर्शन का भी बीजारोपण हो चुका है।

"न्याय" शब्द का प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। वात्स्यायन ने "न्याय" शब्द का अर्थ देते हुए कहा है:- "प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना ही न्याय" है।¹ एक अन्य स्थल पर उन्होंने बताया है कि प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव ही परम न्याय हैं :- "सायं परमो न्यायः ।" § न्या० भा० 1/1/1 § 1" इस प्रकार "न्याय" शब्द का प्रयोग न्यायविद्या या तर्कविद्या के लिए होता है।

बुद्ध की शिक्षाओं में इस "न्याय" का सङ्केत मात्र मिलता है, किन्तु केवल सङ्केतों के आधार पर ही बौद्ध-न्याय का उद्भव उस काल से नहीं माना जा सकता। बौद्ध न्याय के प्रारम्भिक लेखकों के रूप में हम नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेय, असङ्ग, वसुबन्धु आदि लेखकों का नाम ले सकते हैं। इनके कार्यों में कतिपय अंशों में "न्याय" का विषय प्रतिपादित किया गया है, परन्तु सम्पूर्ण रूप से "न्याय" के विषयों पर कार्य उन्होंने कम ही किया।

1. "कः पुनरयं न्यायः १ प्रमाणैरर्थरीक्षणम् ।" § न्यायभाष्य §

न्यायदर्शनम्, 1/1/1, पृ० सं० 3, पंक्ति सं० 5-6.

तथापि इनमें से असङ्ग तथा वसुबन्धु ने न्याय-विद्या का अध्ययन कर प्रमाण-मीमांसा का विवेचन किया है। वसुबन्धु ने "न्याय" पर "तर्कासत्र" नामक निबन्ध लिखा। वसुबन्धु के विद्यार्थी ने वास्तिक नैयायिकों को उत्तेजित कर दिया और उन्होंने अपने कार्यों में असङ्ग तथा वसुबन्धु की अत्यंत आलोचना की। फिर भी वसुबन्धु का न्याय-सम्बद्ध विवेचन अधिकारितः वस्तुवादी न्याय-सम्प्रदाय के समान ही था, अतः दिङ्नाग ने वसुबन्धु के "प्रत्यक्ष" आदि के लक्षण में दोष दिखाये और बौद्धदर्शन की तत्त्वमीमांसा के अनुकूल बौद्ध-न्याय का वर्णन किया।

पाँचवीं सदी में किसी समय भारतीय-दर्शन के आकाश में एक जाज्वल्यमान तारे के रूप में "दिङ्नाग" का उदय हुआ। बौद्ध जनश्रुति के अनुसार दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। उत्तरकालीन तारे भारतीय दर्शन पर, विशेषकर न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा के "बाह्यार्थवाद" पर उनकी समिटि ठाप है। जिस प्रकार वैशान्त के अद्वैतवाद को नागाजुन ने स्फूर्ति और प्रेरणा मिली, उसी प्रकार भारतीय बाह्यार्थवाद को दिङ्नाग ने, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि "अद्वैतवाद" ने थोड़ा सा उलट-पलट कर नागाजुन की विचार-बदलि को स्वीकार किया, परन्तु इधर दिङ्नाग ने न्याय-वैशेषिक के रुढ़ "बाह्यार्थवाद" पर जो आक्रमण किया, उसके उत्तर और पुन्युत्तर रूप लगभग पाँच सौ वर्षों के लगातार सघर्ष में ही भारतीय बाह्यार्थवाद की रूपरेखा तैयार हुई। दिङ्नाग ने विशेषकर न्याय के "वात्स्यायन-भाष्य" पर आक्रमण किया था, जिसका उत्तर उद्योतकर ने "न्यायवार्तिक" में दिया। इसी बौद्ध-न्याय-संघर्ष ने भारत के कतिपय सबसे महान् दार्शनिक जैसे उद्योतकर, धर्मकीर्ति, कुमारिल, प्रभाकर, धर्मोत्तर, वाचस्पति-मिश्र, जयन्त, श्रीधर और उदयन आदि को जन्म दिया।

दिङ्नाग का मुख्य-ग्रन्थ, जिसने भारतीय दर्शन में कान्ति उत्पन्न कर दी "प्रमाणसमुच्चय" है। इसके अतिरिक्त भी दिङ्नाग के अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें से अधिकांश चीनी और तिब्बती भाषा के अनुवादों में विद्यमान हैं-

→ और कई मूल संस्कृत रूप में भी प्राप्त हो चुके हैं। दिङ्-नाग का "न्याय-प्रकाश" संस्कृत रूप में प्रीयुत ध्रुव द्वारा सम्पादित और टिप्पणीयुक्त प्रकाशित हो चुका है। वह "न्याय" का ग्रन्थ है। दिङ्-नाग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिसमें बाह्य पदार्थों का ऊँउन किया गया है, "बालम्बनपरीक्षा" है। यह भी प्रकाशित हो चुका है। दिङ्-नाग का समय 450-520 ई० माना गया है। दिङ्-नाग तक स्थिति यह रही कि सर्वज्ञानान्य हेतुविद्या का आशय लेकर बौद्ध अपने मतव्यापि की स्थापना वाद-विवाद में करते रहे, किन्तु स्वतन्त्र बौद्धदृष्टि से हेतुविद्या का निरूपण करने का प्रयत्न नहीं हुआ। दिङ्-नाग के -"प्रमाण-समुच्चय" से पूर्व जितने भी बौद्ध-न्याय के ग्रन्थ लिखे गये, उनमें प्रमाण विचार गौण हैं या बिल्कुल नहीं, किन्तु वाद-विवाद से सम्बद्ध विषयों का ही अधिक निरूपण है। दिङ्-नाग ही सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने प्रमाणशास्त्र को पृथक् शास्त्र का रूप प्रदान किया है। तत्पश्चात् भारतीय प्रमाण-शास्त्र के पिता दिङ्-नाग हैं। इस प्रकार दिङ्-नाग जब भारतीय-प्रमाण-शास्त्र के पिता हैं, तब बौद्धों के प्रमाण-शास्त्र के वह पिता या प्रस्थापक बनें, इसमें तो कोई सन्देह का स्थान ही नहीं।

दिङ्-नाग के पश्चात् "न्याय" पर कुम्बद बौद्ध लेखकों में परमार्थ, शाङ्करस्वामिन्, धर्मपाल आदि के भी नाम आते हैं। धर्मपाल के पश्चात् दिङ्-नाग का उत्तराधिकारी, जो कि दिङ्-नाग के समान ही महान् प्रतिभाशाली था, वह "धर्मकीर्ति" है। दिङ्-नाग नवीन न्यायवादी बौद्धों के सम्प्रदाय का प्रवर्तक है, परन्तु उसे दृढ़ आधार पर स्थापित करने का गौरव धर्मकीर्ति को ही प्राप्त है। धर्मकीर्ति दिङ्-नाग के बहुत समय बाद सातवीं शताब्दी में हुए। उस समय दर्शन का प्रत्येक सम्प्रदाय जागृत हो उठा तथा धर्मकीर्ति के तर्कों से दर्शन जगत् में सर्वत्र हलचल मच गई। वास्तविक दार्शनिकों ने अपने दर्शन की नई वाकृति प्रदान की तथा उन्होंने अपनी पुरानी मूल पुस्तकों में ऐसे नये अर्थ निकाले, जिनके बारे में संभवतः उनके लेखकों ने सोचा भी नहीं था।

धर्मकीर्ति के कार्यों में "प्रमाणवार्तिक" दिङ्नाग के "प्रमाणसमुच्चय" पर आधारित होने पर भी महत्ता में मूल पुस्तक से आगे बढ़ गई तथा आगे आने वाले विशाल साहित्य का आधार बनी। धर्मकीर्ति का ग्रन्थ "प्रमाणवार्तिक" मनोरथ-नन्दिकृत वृत्तिसहित श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित होकर "बिहार-रिसर्च-सोसाइटी" के जर्नल में प्रकाशित हो चुका है। साथ ही "प्रमाणवार्तिक" के एक भाग पर पुणेकर गुप्त की "वार्तिकालङ्कार" नामक टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। धर्मकीर्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "हेतुबिन्दुविनिश्चय" है। इसमें "प्रमाणवार्तिक" के विषय को संक्षिप्त रूप में दिया है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जो कि दिङ्नाग-सम्प्रदाय को समझने में इस समय हमारा सबसे बड़ा सहायक है, धर्मकीर्ति का "न्यायबिन्दु" है। प्रमाण-शास्त्र के जब अनेक ग्रन्थ बन गये, तब परिनिष्ठित सिद्धान्तों का ही संक्षेप में प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हो, यह स्वाभाविक है। आचार्य धर्मकीर्ति ने "न्यायबिन्दु" लिखकर उसी आवश्यकता की पूर्ति की है। यही अकेला ग्रन्थ है, जिसका ठीक-ठीक सम्पादन होकर अनुवाद भी हो चुका है। "न्यायबिन्दु" धर्मतत्त्व की टीका सहित बहुत पहले पीटर्सन द्वारा सम्पादित होकर कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुआ था। श्चेरबात्स्की द्वारा सम्पादित, धर्मतत्त्व टीका सहित "न्यायबिन्दु" का एक विशेष संस्करण रुस में छप चुका है। और "बुद्धिस्ट-लौजिक" की द्वितीय जिल्द में श्चेरबात्स्की द्वारा "न्यायबिन्दु" का अंग्रेजी अनुवाद विस्तृत और अर्थप्रकाशक टिप्पणियों सहित छप चुका है। दुर्भाग्य की बात है कि "न्यायबिन्दु" का रुसी संस्करण और अनुवाद दोनों ही इस समय भारत में अप्राप्य हैं। धर्मतत्त्व के अतिरिक्त "न्यायबिन्दु" का टीकाकार "विनीतदेव" भी था। उसका ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। धर्मकीर्ति ने उद्योतकर, कुमारिल आदि वास्तविक दार्शनिकों की समालोचना करके बौद्ध प्रमाण-शास्त्र की भूमिका को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने केवल वास्तविक दार्शनिकों की ही आलोचना नहीं की, अपितु स्वयं दिङ्नाग की भी समालोचना कुछ गौण विषयों में की।

धर्मकीर्ति के पश्चात् देवेन्द्रबोधि, शाक्यबोधि, विनीतदेव, जिनेन्द्रबोधि, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध नैयायिक हुए। इनमें से शान्तरक्षित का "तत्त्वसंग्रह" बौद्धन्याय पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है। कमलशील ने "तत्त्वसंग्रह" पर टीका लिखी। "तत्त्वसंग्रह" की पक्तियों की व्याख्या करते हुए इसने उन लेखकों के नाम भी दिए हैं, जिनके विचारों का शान्तरक्षित ने कारिकाओं में उल्लेख किया है, लेकिन उनके नामों का उल्लेख नहीं किया। इसके बाद कल्याणरक्षित, धर्मांतराचार्य, अर्चट, चन्द्रगोभिन्, पुष्पाकर गुप्त, जेतारी, दुर्वैक मिश्र, जिन आदि बौद्ध दार्शनिकों के नाम आते हैं। इनमें से धर्मांतर ने धर्मकीर्ति के "न्यायबिन्दु" पर विस्तृत टीका "न्यायबिन्दुटीका" लिखी तथा दुर्वैक मिश्र ने इस टीका पर "धर्मांतरपुद्गीप" नामक उपटीका लिखी। यह उपटीका अभी "बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय" के श्री दलसुखगोई मालवानिया द्वारा सम्पादित हुई है तथा के० पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट पटना से प्रकाशित हुई है। "धर्मांतरपुद्गीप" अत्यंत सरल भाषा में लिखे उपटीका है। दार्शनिक पुस्तकों में इतनी सरल रीति से शायद ही कोई ग्रन्थ लिखा गया हो। लेखक ने सामान्य शब्दों को भी अत्यंत सरल शब्दों में स्पष्ट किया है। इसके बाद "जिन" नामक बौद्ध नैयायिक का भी नाम आता है, जिसने "प्रमाणवार्तिकालङ्कारटीका" नामक विस्तृत उपटीका लिखी।

इसके पश्चात् हम उस काल पर आते हैं, जो कुछ अधिकारमय प्रतीत होता है और उस समय का हमारा ज्ञान पूर्ण निश्चयात्मक नहीं है। लेकिन हमारे विद्वानों की खोजों से यह सिद्ध होता है कि "उदयन" तक पहुँचने से पहले ही हमें दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण बौद्ध विद्वानों के नाम मिलते हैं :- ज्ञानश्रीमित्र तथा उनका शिष्य रत्नकीर्ति, जिसने तर्कशास्त्र को बहुत अधिक योगदान दिया है। विवस्तृतिबन्धु साक्ष्यों के अनुसार प्र० उ० सी० भट्टाचार्य ने इन दो लेखकों को ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रखा है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने रत्नकीर्ति का समय 940-1000 ई० माना है, जबकि डा० उमेश मिश्र ने इन्हें ग्यारहवीं शताब्दी में रखा है।

ज्ञानश्रीमित्र, जो रत्नकीर्ति के गुरु माने जाते हैं, उन्होंने बारह निबन्ध लिखे, जो कि ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली" नाम से, एक स्थान पर प्रो० अनन्तलाल ठाकुर द्वारा सम्पादित किए गए हैं। रत्नकीर्ति ने अपने कुछ निबन्ध ज्ञानश्री के निबन्धों से सम्बद्ध लिखकर, उनके निबन्धों को समझाने में सहायता की है। ज्ञानश्रीमित्र के बारह निबन्ध इस प्रकार हैं :-

काम्य-गाध्याय, व्याप्तिचर्चा, भेदाभेद-परीक्षा, अनुपलब्धिहरहस्यम्, सर्वशब्दाभावचर्चा, अपौरुषेयप्रकरणम्, ईश्वरवादः, कार्यकारण-भाष्यसिद्धिः, योगिनिर्णयप्रकरणम्, अद्वैतादिद्वन्द्वप्रकरणम्, साकारसिद्धिशास्त्रम्, साकार-संग्रह-सूत्रम् ।

ज्ञानश्रीमित्र की लेखन शैली अत्यंत सरल और स्पष्ट है, सभी ती विषय की कठिनाता होने पर भी विद्वानों के लिए ये निबन्ध मनोहर हो गए। इन निबन्धों के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि ज्ञानश्री ने विभिन्न शास्त्रों का गहन अध्ययन कर रखा था। अपने निबन्धों में कहीं-कहीं उनकी भाषा काव्यात्मक भी हो गई है। ज्ञानश्री के आस्त्यिक प्रतिद्वन्द्वी नैयायिक हैं। इन्होंने न केवल वाचस्पति-मिश्र के मत का, अपितु अन्य आस्त्यिक नैयायिकों के मत का भी खंडन किया है, जैसे शङ्कर, भासवैज, त्रिलोचन आदि।

रत्नकीर्ति :-

रत्नकीर्ति नामक बौद्ध-नैयायिक के मूल कार्यों में अधिकांश तिब्बत में सुरक्षित हैं तथा उनकी पोटो-प्रति अब "विहार रिसर्च सोसाइटी" में जमा है। रत्नकीर्ति के कुछ टुकड़े-टुकड़े कार्य काफी समय से "जिब्लियोपिका इण्डिका सिनैट" में "सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रेक्ट्स" शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। इसमें रत्नकीर्ति के केवल तीन निबन्ध शामिल हैं :- अपौरुषेयसिद्धिः तथा दो काम्य-गतिविधिः -अन्वयात्मिका और व्यतिरेकात्मिका। प्रो० अनन्तलाल ठाकुर ने "तिब्बतन संस्कृत वर्तमान सरीर" में एक खंड का सम्पादन किया है तथा उसे "रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः" नाम दिया है, जिसमें रत्नकीर्ति के सभी खण्ड प्राप्त कार्य हैं। ये कार्य हैं:- सर्वगतिविधिः, ईश्वरसाधनद्वयम्, अपौरुषेयसिद्धिः, काम्य-गतिविधिः-अन्वयात्मिका, काम्य-गतिविधिः-व्यतिरेकात्मिका, प्रमाणान्तर्भाष्यप्रकरणम्, व्याप्तिनिर्णयः, स्थिरसिद्धिद्वयम्,

चित्राद्वैतप्रकरणम् तथा सन्तानान्तरद्वयम्। ये सभी निबन्ध "न्याय" के विषय में सम्बद्ध हैं, चाहे इनकी विषय-वस्तु सीधी "न्याय" के विषय से सम्बद्ध न हो जैसे :-

स्थितिनिर्दिष्टम्, सर्वगतित्वः, ईश्वरसाधनद्वयम्, अभा-गतिविधिः और विवाहेतदुकाशवादः आदि। "अवोहतिविधिः" में लेखक शब्द-बोध के विषय में बताते हैं, लेकिन अद्वयत्व रूप से यह निश्चित न्याय के विषयों से भी सम्बद्ध है। दो अभा-गतिविधियों में रत्नकीर्ति जगत् की जाणिकता की वस्तु तथा व्यतिरेक से सिद्ध करते हैं। "सर्वगतित्वः" लेखक का दूसरा निबन्ध है, जिसमें लेखक बुद्ध के सर्वगतत्व के अस्तित्व को सिद्ध करता है। "ईश्वरसाधनद्वयम्" रत्नकीर्ति का प्रथम निबन्ध है, जिसमें आस्तिक नैयायिकों के "ईश्वर" के अस्तित्व को सिद्ध करने में दिए गए तर्कों की आलोचना की गई है। "स्थितिनिर्दिष्टम्" में रत्नकीर्ति ने स्थैर्य के अस्तित्व को नकारा है तथा आस्तिक नैयायिकों के स्थिरता संबंधी सभी प्रमाणों का खण्डन किया है। साथ ही यह सिद्ध किया है कि बौद्ध "प्रवाह के नियम" के अनुयायी हैं। "विवाहेतदुकाशवाद" में लेखक ने विभाजन के बीच एकता स्थापित की है। "प्रमाणान्त-भावप्रकरणम्" में लेखक ने यह सिद्ध किया है कि वास्तव में ज्ञान के साधन [प्रमाण] दो ही, प्रत्यक्ष तथा अनुमान हैं। इनके अलावा आस्तिकों के अन्य सभी प्रमाणों का इन्होंने खण्डन किया गया है। अपने निबन्ध "मन्तानान्तरद्वयम्" में यह प्रति-पादित किया है कि बौद्ध "मन्तान" [धारा-प्रवाह] के अलावा अन्य किसी निरन्तर स्थिर वस्तु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।

व्याप्तिनिर्णयः, जिसका कि हमें अध्ययन करना है, इस निबन्ध में रत्नकीर्ति ने व्याप्ति की परिभाषा "भूमीदर्शनगम्या" का खण्डन किया है तथा व्याप्ति के संबंध में "तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक व्याप्ति" का बौद्ध-मत स्थापित किया है। ऐसा करते हुए लेखक ने काशिकाकार, त्रिलोकन, वात्स्यपति, भट्टप्रभृतयः तथा मीमांसिक वातिककार के विचारों का उल्लेख किया है। इस निबन्ध में रत्नकीर्ति ने "व्याप्ति" के विषय में नैयायिकों, वैशेषिकों तथा पूर्व-मीमांसिकों के विचारों को उद्धृत करते हुए, उनका खण्डन करके, अपने मत को प्रतिपादित किया है, अतः हमें रत्नकीर्ति से पूर्ववर्ती नैयायिकों, वैशेषिकों तथा पूर्वमीमांसिकों का ज्ञान भी अवशित है :-

रत्नकीर्ति से पूर्ववर्ती नैयायिक-बौद्धिक एवं भौमात्मिक:-

भारत में न्याय-दर्शन का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस समय का न्यायदर्शन पूर्णतया अक्षपाद गौतम के "न्यायसूत्र" पर आधारित है। इनका काल ई० पू० पाँचवीं शताब्दी है। इसके बाद "न्यायसूत्र" पर वात्स्यायन नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने "न्यायभाष्य" लिखा, जो कि "न्यायसूत्र" पर आज उपलब्ध भाष्यों में सर्वप्राचीन भाष्य है। प्राचीन "न्याय" पर हुए कार्यों में वात्स्यायन का भाष्य सबसे अधिक कठिन है। इसके पश्चात् छठी शताब्दी ई० पू० उद्योतकर नामक नैयायिक हुए, जिन्होंने "न्यायभाष्य" पर "न्यायवार्तिक" लिखा। उद्योतकर का "न्यायवार्तिक" को लिखने का उद्देश्य यह था कि उस समय वास्तिक तथा नास्तिक नैयायिकों के बीच काफी बौद्धिक संघर्ष था। यद्यपि कई महान् वास्तिक नैयायिक थे, परन्तु यह एक सत्य है कि बौद्धों की आलोचनात्मक और उच्चतर तर्क-शक्ति के आगे न्याय-दर्शन की स्थिति को बनाये रखने के लिए कोई विद्वान् प्रयाप्त न था। वह सम्पूर्ण काल आज तक भी अधिकारमय प्रतीत होता है, क्योंकि उस काल के कई कार्य अभी भी भारत के कुछ अज्ञात भागों में लुप्त हैं या सदैव के लिए लुप्तप्रायः हो गए हैं। ऐसे समय में उद्योतकर ने वात्स्यायन के "न्यायभाष्य" पर, न्याय के स्थिर तत्त्वों को, दिङ्नाग व अन्य बौद्धों की गलत व्याख्याओं तथा प्रहारों से बचाने के लिए, "न्यायवार्तिक" लिखा। उद्योतकर के "वार्तिक" में बौद्ध-साहित्य से कई उद्धरण तथा सन्दर्भ हैं। अपने "वार्तिक" में कई स्थानों पर इन्होंने वात्स्यायन से भिन्न भी मत दिया है तथा अपनी व्याख्या के समर्थन में तर्क भी दिए हैं। उद्योतकर के पश्चात् भविविक्त, प्रीतिचन्द्र, भाविविक्त, पुशस्तमति, भासर्वज्ञ, तात्पर्याचार्य, नरसिंह आदि नैयायिकों का नाम मिलता है। तत्पश्चात् हम वाचस्पति मिश्र के गुरु "त्रिलोचन" पर आते हैं, जिनके मत को रत्नकीर्ति ने अपने "व्याप्तिनिर्णयः" निबन्ध में उद्धृत कर अङ्कित किया है। —————>

→ इन्होंने "न्यायभाष्य" अथवा "न्यायसूत्र" पर "न्यायमञ्जरी" नामक टीका लिखी, जो कि अब उपलब्ध नहीं है तथा "पुकीर्णक" नामक एक कार्य भी त्रिलोचन ने किया। ज्ञानश्रीमित्र ने भी अपने कार्यों में "त्रिलोचन" का उल्लेख किया है।

त्रिलोचन के पश्चात् नवीं शताब्दी में ही इस देश के दर्शन के इतिहास में सबसे बड़ा नाम, जैसा कि डा० गोपीनाथ कविराज ने उल्लिखित किया है, त्रिलोचन के शिष्य वाचस्पति मिश्र का है। इन्होंने "दर्शन" के सभी क्षेत्रों में विस्तृत व गहन अध्ययन कर विद्वत्ता प्राप्त की तथा "सर्वतन्त्रस्वतन्त्र" कहे जाने लगे। इनके अतिरिक्त कोई भी विद्वान् इस योग्यता को प्राप्त न कर सका। वाचस्पति-मिश्र ने जिस भी विषय पर लिखा, पूर्ण विश्वास तथा निष्पक्षता के साथ लिखा। सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र द्वारा "पूर्वमीमांसा" पर किए गए कार्य "विधिविवेक" पर "न्यायकणिका" नामक टीका लिखी। उनका द्वितीय कार्य "ब्रह्मतत्त्वप्रमीक्षा" है, यह उपलब्ध नहीं है। इसके अलावा इनके कार्य तत्त्वबिन्दु, न्यायसूचीनिबन्ध, न्यायवार्तिक पर "तात्पर्यटीका", सांख्यकारिका पर "तत्त्वकौमुदी" टीका, योगसूत्र पर व्यास के "योगभाष्य" पर तत्त्ववैशारदी नामक टीका तथा "ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य" पर की गई टीका "भामती" हैं। वाचस्पति मिश्र का "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" को लिखने का उद्देश्य उद्योतकर की प्राचीन शिक्षाओं को, बौद्धों के गलत अर्थों से बचाना था। उनकी "न्याय-वार्तिकतात्पर्य-टीका" जिनसे भी साक्षात् सम्बद्ध है :- सूत्र, भाष्य और वार्तिक, उन सभी से अपनी महत्ता के कारण, अधिक ख्याति को प्राप्त हुई। "तात्पर्यटीका" ने वास्तव में न्याय-दर्शन के पदार्थों को तथा "वार्तिक" के रहस्यों को समझाने में इतनी सफलता पाई, कि वाचस्पति मिश्र "तात्पर्यार्थ" के नाम से न्याय-जगत में विख्यात हैं।

वाचस्पति-मिश्र के पश्चात् विश्विक, विश्वकप, जयन्त भट्ट, अध्ययन, सनातनी आदि आस्तिक नैयायिकों का वर्णन मिलता है। इनमें से जयन्त भट्ट ने "न्याय" पर "न्यायमञ्जरी" नामक कार्य किया। ये अत्यंत विद्वान व विख्यात आस्तिक नैयायिक थे। इनका एक अन्य कार्य "न्यायकलिका" भी है। "न्यायमञ्जरी" अत्यंत स्वतन्त्र, विस्तृत व स्पष्ट टीका है जो कि केवल न्याय-दर्शन के लक्षण-सूत्रों पर है। इसका प्रकाशन "विजयनगर, संस्कृत सीरीज" तथा चौखम्बा संस्कृत सीरीज में हुआ है। "न्यायकलिका" "भरस्वती भवन संस्कृत टेक्स्ट सीरीज" में प्रकाशित हुई है।

इसके बाद हम रत्नकीर्ति से पूर्ववर्ती वैशेषिक-दर्शन के आचार्यों पर आते हैं। वैशेषिक-दर्शन के प्रमुख आचार्य कणाद, प्रशस्तपाद आदि रत्नकीर्ति से पूर्व के लेखक हैं। कणाद ने "वैशेषिक-सूत्र" लिखे तथा प्रशस्तपाद ने उन सूत्रों पर "भाष्य" लिखा, जो कि "प्रशस्तपादभाष्य" के रूप में स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित हुआ।

अब हम पूर्वमीमांसा अथवा मीमांसा-दर्शन पर आते हैं। मीमांसा-दर्शन का प्राप्त मूलभूत ग्रन्थ "मीमांसा-सूत्र" है, इसे "जैमिनी-सूत्र" भी कहा जाता है। दर्शन-जगत् में सूत्र-ग्रन्थाली की उद्भावना का श्रेय "जैमिनी" को ही मिलना चाहिए, क्योंकि दर्शन सूत्र-साहित्य में सर्वप्रथम सूत्ररचना "जैमिनीसूत्र" ही है, जिनका अनुकरण अन्य सूत्रकारों ने किया। भर्तृहरि, भस्मास, हरि, उपवर्ण और वृत्तिकार मीमांसा-दर्शन के उन आचार्यों में से हैं, जिनकी व्याख्यायें मीमांसासूत्रों पर थीं, किन्तु वे अप्राप्य हैं। इन आचार्यों में सर्वप्रथम "वृत्तिकार" हैं। इनके पश्चात् "शबरस्वामी" ने मीमांसा-सूत्रों पर "शबर-भाष्य" लिखा।

इसके पश्चात् दो अत्यंत विख्यात मीमांसकों के नाम आते हैं :- कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने माना है कि धर्मकीर्ति बौद्ध-दर्शन का अन्तिम चमकता हुआ तारा है।²

1. डा० राधाकृष्णन् :- इण्डियन फिलॉसॉफी, वाल्जुम-2, पृ० सं० 876.

2. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री :- भारतीय दर्शन शास्त्र न्याय-वैशेषिक, पृ० सं० 65.

धर्मकीर्ति के समय में ही बौद्ध-धर्म पतनोन्मुख हो रहा था। उसके थोड़े ही दिन बाद सातवीं शताब्दी के अन्त या आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कुमारिल और शङ्कर ने बौद्ध-धर्म पर तीव्र आक्रमण किया। बौद्धों के प्रमाणशास्त्र के विकास के साथ-साथ बौद्धेतरों में भी स्वतन्त्र-प्रमाण-शास्त्र का विकास होना अनिवार्य था। "मीमांसा" जैसे दर्शनों में, जहाँ "प्रमाण" की चर्चा सर्वथा गौण थी, जहाँ भी कुमारिल ने "श्लोकावर्तिक" लिखकर और प्रभाकर ने "बृहती" लिखकर प्रमाणविद्या को मीमांसक-दृष्टि से प्रतिष्ठित किया। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर दोनों लगभग समकालीन थे। यह माना जा सकता है कि कुमारिल प्रभाकर के गुरु थे, परन्तु प्रभाकर कुमारिल का अनेक सिद्धान्तों में विरोध करते थे, इसलिए कुमारिल ताने के रूप में उनको "गुरु" कहते थे और इसलिए प्रभाकर का मत "गुरुमत" कहलाता है। कुमारिल का मत "भट्ट-मत" कहलाता है।

जिस समय दिङ्नाग ने न्याय-वैशेषिक के "बाह्यार्थवाद" पर आक्रमण किया, उसका उत्तर उद्योतकर ने दिया। उसके बाद बौद्धों के विज्ञान-वाद और न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के "बाह्यार्थवाद" में कई शताब्दियों तक संघर्ष हुआ ; उस संघर्ष में उद्योतकर [जो छठी शताब्दी के अन्त] के बाद से वाचस्पति मिश्र [नवीं शताब्दी] तक न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने कोई महान् दार्शनिक उत्पन्न नहीं किया। इस बीच के समय में "बाह्यार्थवाद" की ध्वजा को पूर्वमीमांसा-सम्प्रदाय ने उठाये रखा। कुमारिल और प्रभाकर ने दिङ्नाग सम्प्रदाय पर जोरदार आक्रमण किया और उन्होंने "बाह्यार्थवाद" की पृष्टि में कतिपय ऐसे सिद्धान्तों को जन्म दिया, जो "बाह्यार्थवाद" के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस प्रकार यद्यपि थोड़े बहुत दार्शनिक विचार "शांकर-भाष्य" में भी पाये जाते हैं, परन्तु "मीमांसा" के क्षेत्र में दर्शन के विशेषकर ज्ञान संबंधी तत्त्वों को लाने का श्रेय कुमारिल और प्रभाकर को ही है।

कुमारिल ने "शाबर-भाष्य" पर टीका तीन ग्रन्थों द्वारा की। "मीमांसा" के पहले अध्याय का पहिला पाद "तर्कपाद" है, उस पर स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में कारिकाबद्ध लिखी गई कुमारिल की टीका का नाम "रत्नकोशार्तिक" है। "रत्नकोशार्तिक" सर्वथा एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें कर्मकाण्ड और यज्ञ का वर्णन नहीं, प्रत्युत "पुमाणपाद" की स्थापना में अधिकतर बाँटों का खण्डन किया गया है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक के "शाबरभाष्य" पर की गई कुमारिल की व्याख्या का नाम "तन्त्रवार्तिक" है तथा शेष भाष्य पर कुमारिल ने संक्षिप्त टिप्पणियाँ की हैं, उनका नाम "दुष्टटीका" है। कुमारिल के अनुयायी अनेक मीमांसा-लेखक हुए हैं, जिनमें से मुख्य मण्डनमिश्र, पार्थसारथि मिश्र और सौमिल्य हैं। "रत्नकोशार्तिक" पर अनेक भाष्य लिखे गये।

दुसररी और पुष्पाकर ने मीमांसा के "तर्कपाद" पर "बृहती" नामक टीका लिखी और उस टीका पर पुष्पाकर के मतानुयायी शालिकनाथ ने "अनुविमला" नामक टीका लिखी तथा पुष्पाकर-मत पर एक स्वतन्त्र निबन्ध "पुकरणसंज्ञिका" नामक लिखा। पुष्पाकर-सम्प्रदाय के भी अनेक ग्रन्थ हैं, परन्तु कुमारिल सम्प्रदाय से अत्यन्त हैं। स्वर्गीय डा० गङ्गाधर-दा ने "पुष्पाकर स्कूल आफ मीमांसा" नामक मौलिक निबन्ध में पुष्पाकर के सिद्धान्तों का बहुत उत्तम विवेचन किया है।

इस प्रकार रत्नकीर्ति से पूर्ववर्ती बाँट, नैयायिक-वैशेषिक तथा मीमांसिक शास्त्रार्थों का संक्षिप्त विवरण देने के पश्चात् अब हम सज्जित से अपने "लघु-संक्षेप-ग्रन्थ" में वर्णित विषय-वस्तु का मूल्यांकन करते हैं। "व्याप्तिनिर्णयः :- एक अध्ययन" नामक इस निबन्ध में रत्नकीर्ति के "व्याप्तिनिर्णयः" का अध्ययन किया गया है। "व्याप्ति" जो कि न्याय का एक विशेष पारिभाषिक-शब्द है तथा जिस पर न्याय-दर्शन की अनुमान-प्रक्रिया आधारित है, —————→

→ उसी के सम्बन्ध में बौद्धमत तथा न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा के मतों का उल्लेख करते हुए, दोनों वास्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के एक दूसरे पर आगोप-प्रत्यारोप तथा उनका समाधान देते हुए अपने मत की पृष्टि, यही वह विषय वस्तु है, जो इस "लघु-शोध-ग्रन्थ" में वर्णित है। बौद्धों में, मुख्य रूप से दिङ्-नाग से लेकर "प्रमाण-विद्या" का प्रचलन हुआ। "व्याप्ति" का स्वरूप क्या है ? "व्याप्ति" कैसे निश्चित की जाती है ? आदि ऐसे प्रश्न हैं, जिनके विषय में बौद्ध तथा नैयायिक-मीमांसकों के पृथक्-पृथक् मत हैं और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए दोनों अपने मत से टल से भस नहीं हो सकते। इसलिए दोनों, वास्तिक तथा नास्तिक दर्शन, एक दूसरे के मत को खण्डित करते हैं तथा अपने मत की पृष्टि में अनेक तर्क देते हैं। "व्याप्ति" को बौद्ध स्वभाव-प्रतिबन्ध या अविनाभाव-नियम कहते हैं। "व्याप्ति" को नैयायिक "भूमीदर्शनान्या" मानते हैं, जबकि बौद्ध "व्याप्ति" को तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक मानते हैं। बौद्धों के मत में कार्य को देखकर कारण का अनुमान लगाया जाता है अथवा दो वस्तुओं में अभेद होने पर हम एक को देखकर, दूसरी वस्तु का अनुमान लगा लेते हैं, जबकि नैयायिक-मिमांसक ऐसा नहीं मानते। वे "व्याप्ति-सम्बन्ध" को बार-बार दर्शन-संज्ञित मानते हैं। इसे स्वाभाविक, निरुपाधिक सम्बन्ध मानते हैं। स्थूल रूप से यही वह विषय-वस्तु है, जो रत्नकीर्ति ने अपने "व्याप्ति-निर्णयः" निबन्ध में उल्लिखित की है। वास्तिक-मत को दिखाने के लिए रत्नकीर्ति ने त्रिलोक्य, वाचस्पति मिश्र, कुमारिल भट्टादि के मतों को उद्धृत किया है तथा उनका खण्डन करके अपने मत {बौद्ध-मत} की पृष्टि की है।

"प्रथम अध्याय"
=====

"दिङ्-नाग-सम्प्रदाय में अनुमान-विवेचन" :-
=====

धर्मनाथ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ "भारतीय दर्शन-शास्त्र: न्याय वैशेषिक"¹ में न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के इतिहास में तीन युग निम्न प्रकार से विभक्त किए हैं :-

1. प्रारम्भिक-युग {दिङ्-नागप्राक्कालीन} - पाँचवीं शताब्दी तक
2. संघर्ष और विकास का युग {दिङ्-नागादितरकालीन} पाँचवीं से आठवीं शताब्दी तक ।
3. शास का युग {गङ्-गोला युग} - आठवीं शताब्दी से अब तक ।

इनमें से दिङ्-नागादितरकालीन, जो कि संघर्ष और विकास का युग है, पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक का यह युग भारतीय-दर्शन का "स्वर्णयुग" कहा जा सकता है, जिसमें भारतीय-दर्शन के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विकास हुआ। इस युग में एक और दिङ्-नाग सम्प्रदाय और दूसरी और बाह्यार्थवादी वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों {न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा} में लगातार संघर्ष चला, जिसके फलस्वरूप उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ और यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय की वर्तमान रूपरेखा उसी संघर्ष का फल है। इस संघर्ष में भाग लेने वाले कतिपय महान् दार्शनिक दिङ्-नाग के अतिरिक्त उद्योतकर, धर्मकीर्ति, कुमारिल, प्रभाकर, धर्मादितर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त, उदयन, श्रीधर, व्यासमिश्र, शान्तरक्षित, भासवर्ज आदि हैं।

1. भारतीय दर्शन-शास्त्र: न्याय-वैशेषिक, पृ० सं० 105.

दिङ्-नाग-सम्प्रदाय ने प्रमाण-विवेचन पर बहुत अधिक बल दिया है। दिङ्-नाग ने अपने ग्रन्थ "प्रमाण समुच्चय" में प्रमाणों का विस्तृत विवेचन किया है। धर्मकीर्ति ने भी "प्रमाणवार्तिक" तथा "न्यायबिन्दु" आदि अनेक ग्रन्थों में प्रमाणों का ही विस्तृत वर्णन करते हुए बौद्ध-दर्शन के विचारों को स्पष्ट किया है। इसके अलावा न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में बौद्ध-न्याय के प्रमाणादि की आलोचना की गई है, इस आलोचना में भी बौद्धों की प्रमाण विषयक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ा है।

वाचस्पति-मिश्र ने "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में प्रमाणों का स्वरूप निरूपण करते हुए बौद्ध-दर्शन की प्रमाणविषयक मान्यताओं आदि को उद्धृत कर, उनका खण्डन किया है। "न्यायकणिका" में भी बुद्ध की सर्वज्ञता की आलोचना करते हुए प्रासङ्गिक रूप से बौद्ध-दर्शन के प्रमाणों का विवेचन किया है। ये दोनों ही ग्रन्थ बौद्ध-दर्शन के प्रमाण-निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

बौद्ध-दर्शन का विकास चार सम्प्रदायों के रूप में हुआ था और ये सम्प्रदाय हैं :- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद। ये चारों सम्प्रदाय एक दूसरे से उतने ही विचारों में पूर्ण हैं, जैसे न्याय, सांख्य आदि वास्तविक-दर्शन। इनमें से वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक भूत-भौतिक तथा चित्त-वैज्ञानिक आदि बाह्य और आन्तरिक पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करते हैं, अतः इनके मत में प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की यथार्थता किसी प्रकार बन सकती है, किन्तु विज्ञानवादी तथा शून्यवादी के मत में प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार कल्पित है। इसकी परमार्थतः सत्ता नहीं, केवल लोक-यात्रा के निर्वाह के लिए ही प्रमाण-प्रमेय-भाव स्वीकार किया जाता है।

धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ "प्रमाणवार्तिक" में "प्रमाण" का लक्षण इस प्रकार दिया है :-

"प्रमाणमविज्ञादि ज्ञानम् ; तथैक्या स्थितिः ।

अविज्ञादनम् ; शब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥ "

॥ प्रमाणवार्तिक - 1/3, पृ० सं० 3-4 ॥

अर्थात् वह ज्ञान "प्रमाण" है, जो अपने द्वारा उपदर्शित वस्तु को प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखता है, अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु का बोध कराया जाता है, यदि वह उसी रूप में प्राप्त हो जाती है, तो वह ज्ञान "प्रमाण" कहलाता है। इसी प्रकार धर्मितर ने भी "न्यायविन्दुटीका" में प्रमाण-विवेचन किया है :-

"अविज्ञादकं ज्ञानं सत्यज्ञानम् । लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् सजादक उच्यते । तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं उपदर्शितमर्थं प्रापयन् सजादकमुच्यते ।"

॥ न्यायविन्दुटीका, 1/1, पृ० सं० 10 ॥

वाचस्पति मिश्र "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में "प्रमाण" के लक्षण पर विचार करते हुए लिखते हैं :-

"केचिदाहुः, अनधिज्ञातैरान्तःप्रमाणमिति । विज्ञप्तिमाहृष्य साकारस्य विज्ञानस्यैतदन्ये । विज्ञानस्यैवानाकारस्यात्मानात्म-प्रकाशनसामर्थ्यमित्यपरे । उपलब्धसाधनमिति वृद्धाः ।"

॥ न्यायदर्शनम्, 1/1/1, पृ० सं० 34 ॥

अर्थात् कुछ कहते हैं कि अज्ञात अर्थ का ज्ञापक "प्रमाण" कहलाता है। दूसरों का कथन है कि साकार विज्ञान का जो विज्ञप्ति के साथ साहचर्य है, वही "प्रमाण" है। अन्य कहते हैं कि निराकार विज्ञान का जो अपने स्वरूप ॥ आत्मा ॥ तथा अर्थ ॥ अनात्म ॥ को भासित करने का सामर्थ्य है, वही "प्रमाण" है। अनुभाषी जनौ ॥ वृद्धौ ॥ का मत है कि ज्ञान का साधन ही "प्रमाण" है।

यहाँ प्रथम-मत "अज्ञात अर्थ का ज्ञापक" यद्यपि मीमांसक-मत माना जाता है, तथापि धर्मकीर्ति के अनुसार भी "अनधिगत" अज्ञात पद की सार्थकता है, जैसा कि "न्यायबिन्दुटीका" में आया है :-

"अत एव चानधिगतविषयं प्रमाणम् ।"

॥न्यायबिन्दुटीका, पृ० सं० ११॥

द्वितीय मतम्भात्रास्तिक-मत, तृतीय-वैभाषिक-मत तथा चतुर्थ न्याय-वैशेषिक मत है।

"प्रमाण" कितने प्रकार के होते हैं, इस विषय में भारतीय-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् मत हैं। चार्वाक केवल "प्रत्यक्ष" को ही "प्रमाण" मानता है। बौद्ध और वैशेषिक "प्रत्यक्ष" तथा "अनुमान" दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य-योग, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। "न्याय-दर्शन" इन तीन में "उपमान" को जोड़कर चार प्रमाण मानता है और प्रश्नाकर "अर्थपटित" सहित पाँच । कुमारिल भट्ट "अनुपलब्धि" अभाव को पृथक् प्रमाण मानते हुए छः प्रमाण स्वीकार करते हैं। पौराणिक लोग इन छः प्रमाणों में "संभव" और "ऐतिह्य" को जोड़कर आठ प्रकार के "प्रमाण" मानते हैं।

बौद्ध-दर्शन को दो ही "प्रमाण" स्वीकार्य हैं :- १. प्रत्यक्ष २. अनुमान ।

"न्यायवार्त्तिकोत्तरपटीका" में वाचस्पति-मिश्र लिखते हैं:-

"न चाभ्यामन्यत् प्रमाणमस्ति प्रमाणस्य सतडिब्रैवान्तर्भावात् । अनन्त-भावे वा प्रमाणत्वानुपपत्तेः ।"

॥न्यायदर्शनम्, १/१/१, पृ० सं० ३३॥

"न्यायबिन्दु" में भी आया है :-

"द्विविधं सभ्यज्ञानम् ॥ २ ॥" प्रत्यक्षमनुमानञ्चैति ॥ ३ ॥"

॥न्यायबिन्दुटीका १/२ तथा १/३॥

दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार दो ही प्रमेय हैं:- १. स्वलक्षणा, २. सामान्यलक्षणा ।

इनमें से स्वलक्षणा "प्रत्यक्ष" का विषय है तथा सामान्यलक्षणा "अनुमान" का विषय है।¹ प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों का विषय ग्राह्य और अध्यवसेय के भेद से दो-दो प्रकार का है। "प्रत्यक्ष" का ग्राह्य विषय "स्वलक्षणा" है तथा अध्यवसेय विषय "सामान्यलक्षणा" है। "अनुमान" का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षणा है तथा अध्यवसेय विषय "स्वलक्षणा" है। दिङ्नाग-सम्प्रदाय में परमार्थ सत् वस्तु अर्थात् स्वलक्षणा क्षण मात्र है। यह देश में विस्तार नहीं रखती और काल में स्थिरता नहीं रखती। जिस वस्तु के निकट अथवा दूर स्थित होने से ज्ञान के प्रतिभास ग्राह्याकार होना में स्पष्टता या अस्पष्टता का भेद होता है, वह वस्तु स्वलक्षणा है। स्वलक्षणा से भिन्न ज्ञान का विषय सामान्यलक्षणा है।² वस्तु का अन्य सन्तानों में साधारणतः प्रतीत होने वाला रूप लक्षणा ही सामान्यलक्षणा है, अतः इसका अर्थ है-वस्तु का साधारणरूप। इनमें से "स्वलक्षणा" का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है तथा "सामान्यलक्षणा" का ग्रहण अनुमान द्वारा ही होता है। इसके विपरीत व्यवस्था अर्थात् अनुमान से कभी भी "स्वलक्षणा" का ग्रहण तथा प्रत्यक्ष से कभी भी "सामान्यलक्षणा" का ग्रहण नहीं होता। इसी व्यवस्था को दार्शनिक-भाषा में "प्रमाण-व्यवस्था" के नाम से पुकारा जाता है। बौद्ध-दर्शन "प्रमाण-व्यवस्था" को ही मानता है। प्रमाण-व्यवस्था का तात्पर्य है :- "प्रमेय अर्थ में अनेक प्रमाणों का न जा सकना" अर्थात् व्यवस्थेति, न्यायभा० १/१/३ न्यायदर्शनम्, पृ० सं० १८३ § १ अर्थात् एक प्रमाण का ग्राह्य विषय दूसरे का ग्राह्य नहीं हो सकता, यह मन्तव्य ही "प्रमाण-व्यवस्था" कहा जाता है।

1. तस्य विषयः स्वलक्षणम् ॥ १२ ॥ साद्वानुमानस्य विषयः ॥ १७ ॥

§ न्यायबिन्दुटीका, प्रथम परिच्छेद §

2. न्यायबिन्दुटीका १/१३ तथा १/१६.

हम "प्रमाण-व्यवस्था" का सम्बन्ध प्रमाणों के ग्राह्य विषय से ही है, अध्यक्षीय विषय से नहीं, क्योंकि एक प्रमाण का ग्राह्य विषय दूसरे का अध्यक्षीय तभी हो ही सकता है।

तब पुरन उठता है कि बौद्ध-दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण का स्वरूप क्या है ? "प्रत्यक्ष" के लक्षण के विषय में जहाँ सभी दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित किए हैं, वहाँ बौद्धों में भी परस्पर इनके लक्षण के विषय में मतभेद है। धर्मकीर्ति ने "न्यायविन्दु" में "प्रत्यक्ष" का लक्षण इस प्रकार दिया है:-

"तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापरिभ्रान्तम् ।"

न्यायविन्दुटीका - 1/4 ॥

अर्थात् कल्पनारहित तथा भ्रान्तिरहित ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

उद्योतकर ने "न्यायवार्तिक" में दिङ्नाग के प्रत्यक्ष-सम्बद्ध लक्षण का यह रूप प्रस्तुत किया है :-

"दूसरों का मत है कि कल्पना रहित ज्ञान "प्रत्यक्ष" है। यह कल्पना क्या है ? नाम, जाति आदि की यजिना ही कल्पना है। जैसे नाम 'मृगा' से कहा जाए, न जाति आदि से जिसका निर्देश किया जाए, ऐसा विषय के स्वरूप का अनुसरण करने वाला, विषय का व्यवस्थापक (परिच्छेदक) स्वतंत्र जिसका अनुभव अपने द्वारा किया जाता है। ज्ञान "प्रत्यक्ष" कहलाता है।" 1.

इसके बाद हम "अनुमान" पर आते हैं। "अनुमान" प्रमाण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण बौद्ध-दर्शन में इसका विशद विवेचन किया गया है। इस विवेचन में अनुमान का स्वरूप परिष्कृत होता गया तथा प्रतिपत्तियाँ न्याय-वैशेषिकादि के तर्कों के कारण भी बौद्ध-दर्शन में "अनुमान" का स्वरूप विशेषतः निखरता रहा।

उद्योतकर ने "न्यायवार्तिक" में सम्बन्ध के अनुमान-लक्षण को उल्लिखित करने हेतु "अपरे तु" कहकर इस प्रकार से प्रस्तुत किया है :- "जो पदार्थ किसी दूसरे के बिना नहीं होता, उसका दर्शन, उस को जानने वाले के लिए "अनुमान" होता है।" ¹ अर्थात् जो पदार्थ किसी दूसरे के बिना नहीं होता, वह नान्तरीय या नान्तरीयक कहलाता है, इसे ही अविनाभावी कहते हैं, जैसे धूम, अग्नि के बिना नहीं होता, अतः धूम, अग्नि का नान्तरीयक या अविनाभावी है। जो इस अविनाभावी सम्बन्ध को जानता है, वह जब कहीं धूम को देखता है, तो यही "अनुमान" है, इसमें "अग्नि" की प्रतीति होती है" ।

उद्योतकर ² तथा वावस्पति मिश्र ³ ने दिङ्नाग के अनुमान-लक्षण को बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है। अनुमिति का कर्ण या हेतु दिङ्नाग के अनुसार त्रैप्य-सम्पन्न है। "त्रैप्य" का अर्थ है कि वही हेतु सदहेतु है, जो इन तीनों रूपों से युक्त हो। :-

1. पक्ष में विद्यमान हो ।
2. सपक्ष में विद्यमान हो ।
3. विपक्ष में विद्यमान न हो ।

जैसे "पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से ।" यहाँ "धूम" अग्नि का अविनाभावी है। यह धूम पक्ष {पर्वत} में विद्यमान है, सपक्ष {पाकशाला} में भी विद्यमान है परन्तु विपक्ष {जलाशय} में नहीं है।

1. अपरे तु ब्रुवते - "नान्तरीयकार्यदर्शनं तद्विदोऽनुमानमिति ।"
न्यायदर्शनम् , 1/1/5, पृ० सं० 300.
2. न्यायवार्तिक, न्यायदर्शनम्, 1/1/5, पृ० सं० 300-301.
3. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायदर्शनम्, 1/1/5, पृ० सं० 318-320.

रैन्डल 1° का कथन है कि दिङ्-नाग का त्रैरूप्य का सूत्र "पुशस्तपद्मभाष्य" से आई हुई कारिका 2° के समानान्तर है। यह उस समय से सम्बन्ध रखता है, जब तक व्याप्ति के सिद्धान्त का विकास नहीं हुआ था। दिङ्-नाग ने इसे व्याप्ति के सिद्धान्त से जोड़ दिया। 3° श्वेदवात्स्की का कथन है कि प्रथमतः जमुबन्धु ने हेतु के लिए इस प्रकार के तीन नियम बतलाये थे। उन्हें दिङ्-नाग ने सुव्यवस्थित करके त्रैरूप्य-सम्बन्ध हेतु का स्वरूप निर्धारित किया। 4° और धर्मकीर्ति ने इस हेतु-लक्षण को अधिक परिष्कृत करने के लिए संस्कृत-भाषा की एक क्लृप्ता पदावली का प्रयोग किया। 5° उन्होंने त्रैरूप्य के प्रत्येक पद के साथ "एव" शब्द का प्रयोग किया है; 6° जैसे:- "लिङ्-गस्थानुमेये सत्त्वमेव" यहाँ "एव" शब्द से अभिव्यक्त होता है कि अनुमेय (पर्वतादि पदार्थ) में लिङ्-ग (धुमादि) की अनुपस्थिति की सम्भावना भी नहीं है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार हेतु के तीन रूपों में "एव" शब्द का प्रयोग करने से उस त्रैरूप्यसम्बन्ध हेतु का परिष्कृत रूप निष्पन्न हो जाता है, जो दिङ्-नाग को अभीष्ट था।

1° "फ्रैग्मेंट्स फ्रॉम दिङ्-नाग"

2° "यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।

तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्-गननुमापकम् ॥"

पुशस्तपद्मभाष्य, पृ० सं० 562°

3° "फ्रैग्मेंट्स फ्रॉम दिङ्-नाग" - पृ० सं० 23°

4° "बुद्धिस्ट लाजिक" वाल्युम 1, पृ० सं० 243°

5° "बुद्धिस्ट लाजिक" वाल्युम 1, पृ० सं० 244°

6° त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्-गस्थानुमेये सत्त्वम् एव, सपञ्च एव सत्त्वम्,

सपञ्चो वासत्त्वम् एव निश्चितम् । "न्यायबिन्दुटीका" 2/5, पृ० सं० 102°

धर्मकीर्ति के अनुसार त्रिरूपसम्पन्न लिङ्ग तीन प्रकार के ही होते हैं। ये तीन रूप हैं :- अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। इन तीनों में से दो {स्वभाव तथा कार्य} भावात्मक वस्तु के साधक हैं तथा एक {अनुपलब्धि} प्रतिषेध {अभाव} का साधक है।

अब प्रश्न उठता है कि त्रिरूपसम्पन्न हेतु से अनुमिति कैसे होती है ? इस विषय में वैसे ही लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने विवेचन किया है, परन्तु न्याय-वैशेषिक, मीमांसा और बौद्ध-न्याय ने ही इस पर गंभीर विचार किया है। बौद्ध-दर्शन अनुमिति का जनक अविनाभाव नियम या प्रतिबन्ध को मानता है। इसी को न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा-दर्शन में "व्याप्ति-सम्बन्ध" कहा है। "अविनाभाव" से तात्पर्य है :- "जो जिसके बिना न रहता हो।" जैसे हेतु {धूम} कभी साध्य {अग्नि} के बिना नहीं रहता, अतः "धूम" का "अग्नि" के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है। बौद्ध नैयायिक इस अविनाभाव को तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति पर आधारित मानते हैं तथा तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति पर आधारित अविनाभाव को ही अनुमिति का जनक मानते हैं। "तादात्म्य" का तात्पर्य है :- अभेद या स्वभाव। "तदुत्पत्ति" का तात्पर्य है :- कार्य-कारण-भाव।

वाचस्पति-मिश्र ने बौद्धों के इस मत को अपनी "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :-

"कुछ {दार्शनिक} तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति-निमित्तक अविनाभाव को अनुमान का अङ्ग {जनक} कहते हैं। {उनका कथन है} दो प्रकार का अर्थ है :- प्रत्यक्ष और परीक्षा। इनमें से जो बुद्धि में साक्षात् अपने रूप को समर्पित करता है, वह "प्रत्यक्ष" है। वह स्वविशेषक बुद्धि का जनक है, इसलिए उसके बिना बुद्धि अपने स्वरूप को न प्राप्त करती हुई उसकी सत्ता का निश्चय कराती है। यह मानना चाहिए। परीक्षा {अर्थ} तो बुद्धि में साक्षात् अपने रूप को समर्पित करने में असमर्थ है, इसलिए उसका निश्चय नहीं होता {अव्युक्ता तदुत्पत्तिः निश्चयो यस्य} ।

और, अतिप्रसङ्ग हो जाने के भय से अन्य को देखकर अन्य की कल्पना उचित नहीं, हाँ अविनाभाव-सम्बन्ध से अन्य ^{स्वभाव-सम्बन्ध जोना जाता है} ~~अर्थ~~ भी दूसरे ~~अर्थ~~ का गमक ~~बोधक~~ हो सकता है ; क्योंकि उसका जैसा ~~स्वभाव-सम्बन्ध से युक्त~~ जैसा ही अन्य वस्तु की सत्ता को वह सूचित करता है। किन्तु यह प्रतिबन्ध दर्शन-मात्र से नहीं निश्चित किया जाता, यदि ऐसा होगा, तो वह श्याम है, मैत्री का पुत्र होने से, दिखाई देने वाले मैत्री के पुत्रों के समुदाय के समान २, इस प्रकार का भी अनुमान हो जा सकेगा। यहाँ भी दर्शन और अदर्शन है ही। इसलिए तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति-निमित्तक ही प्रतिबन्ध होता है। जैसा कि धर्मकीर्ति ¹ ने कहा है :- साध्य और साधन के सहभाव के नियामक कार्य-कारणभाव से अथवा तादात्म्य रूप एकात्मता, तदुत्पत्ति नियामक से अविनाभाव-नियम स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है। विषय में हेतु के अदर्शन मात्र से अदर्शनात् अविनाभाव का निश्चय नहीं होता और न सफल में हेतु के दर्शन से दर्शनात् अविनाभाव का निश्चय होता है। ²

सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का कथन है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति का सिद्धान्त धर्मकीर्ति की नवीन उद्भावना है और यह धर्मकीर्ति की बौद्ध-दर्शन को एक नवीन देन है। ³

1. " कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात् ।

अविनाभावनियमोऽदर्शान्न न दर्शनात् ॥ " पुमाणवार्तिक, 3/31, पृ० 269. §

2. "तथा हि केचिदविनाभावं दर्शान्न न दर्शनात् । "

न्याय-दर्शनम्, 1/1/5, पृ० सं० 304.

3. "हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फिलॉसॉफी", वॉल्यूम 1, पृ० सं० 156.

वाचस्पति मित्र कृत उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध, अविनाभाव-नियम का ग्रहण दो प्रकार से मानते हैं :- एक तो कार्यकारण-भाव [तदुत्पत्ति] से; जैसे धूम, अग्नि का कार्य है। वह अग्नि के बिना नहीं रह सकता, अतः धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव-नियम है, यह निश्चय होता है। ^{दूसरे, तात्पर्य से अविनाभाव-नियम का निश्चय होता है,} ~~दूसरे, तात्पर्य से अविनाभाव-नियम का निश्चय होता है,~~ ^{जैसे :-} शिखा होने से यह वृक्ष है।" यहाँ "शिखा" [वृक्ष विशेष] का वृक्ष विशेष से तादात्म्य है। शिखात्वं, वृक्ष के बिना नहीं रह सकता, अर्थात् जब शिखा, एक वृक्ष ही है, तो जहाँ वृक्ष नहीं होगा, वहाँ शिखा कैसे हो सकता है ? अतः शिखात्वं का वृक्षत्व के साथ अविनाभाव का नियम है। इस प्रकार कार्य-कारण-भाव या तादात्म्य से होने वाला ही अविनाभाव होता है, जैसे कि "न्यायविन्दुटीका" में आया है:-

"न च प्रतिबन्धः साध्योऽथे लिङ्गस्य ॥२/२१॥"

"वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च ॥२/२२॥"

बौद्धों का यह अविनाभाव-सम्बन्ध अपने स्वभाव के समान ही प्रतिबन्ध या स्वभाव-प्रतिबन्ध नाम धारण करता है। इस स्वभाव-प्रतिबन्ध के कारण ही एक वस्तु दूसरी की गमक या अधिक होती है।

अविनाभाव-नियम के परचाह हम अनुमान के "विषय" पर आते हैं। बौद्ध-दर्शन के ~~मत~~ के अनुसार अनुमान का विषय मानस है, बाह्य नहीं। दिङ्नाग के मत में बुद्धि-परिकल्पित "धर्म-धर्मि-भाव" ही अनुमान-अनुमेय-भाव होता है, यह प्रकट करते हुए वाचस्पति मित्र "तात्पर्यटीका" में कहते हैं:-

"दिङ्नाग के मत में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो अविनाभावी होकर हेतु हो। जैसा कि कहा है :- यह समस्त अनुमान तथा अनुमेय का व्यवहार बुद्धि द्वारा कल्पित धर्म और धर्मि के संबंध पर निर्भर है, यह बाह्य जगत् में वस्तु की सत्ता और असत्ता की अपेक्षा नहीं रखता ।"

1. "न हि दिङ्नागस्य मते सत्तत्त्वव्यपेक्षते, इति।"

अनुमान का ग्रहण विषय "सामान्य" है तथा अध्यवसेय "वर्थाक्यात्म-वस्तु" है। दिङ्नाग के मत ने जब हम धूम से अग्नि का अनुमान करते हैं, तो "अग्निविशिष्ट देश" का अनुमान होता है। जैसा कि "तात्पर्यटीका" में वर्णन किया गया है :-

"यहां दिङ्नाग ने, धूम से अग्नि रूप अन्य धर्म का अनुमान होता है अथवा अग्नि तथा देश {पर्वतादि} के सम्बन्ध का अनुमान होता है-इसकी दोष युक्त सिद्ध करके यह समर्थन किया है कि अग्निविशिष्ट देश का अनुमान होता है । " 1.

वैशेषिक और बौद्ध तर्क-शास्त्र दोनों ने ही अनुमान के स्पष्ट रूप से दो भेद किए हैं :- 1. स्वार्थानुमान 2. परार्थानुमान ।

ये दोनों भेद न्याय-सूत्र और न्याय-भाष्य में स्पष्टतया प्रतीत नहीं होते। "न्यायबिन्दुटीका" के आधार पर कीथ तथा रेन्डल यह मानते हैं कि स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान में स्पष्ट भेद करने वाले दिङ्नाग ही थे।²

बौद्ध-न्याय के अनुसार अनुमान-वाक्य के केवल दो ही अवयव माने जाते हैं:- हेतु तथा दृष्टान्त ।

वसुबन्धु ने न्याय-वाक्य के तीन अवयव माने थे :- प्रतिज्ञा { पक्ष }, हेतु, और दृष्टान्त। दिङ्नाग ने भी इन तीनों का विवेचन किया था, किन्तु स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया कि न्याय-वाक्य के कितने अवयव होते हैं। धर्मकीर्ति ने यह स्पष्ट किया है कि दिङ्नाग के मतानुसार पक्षवचन { प्रतिज्ञा } साधन-वाक्य का अङ्ग नहीं है। →

1. द्रष्टव्य :- " अत्र दिङ्नागेन गमयिष्यति ।। इति। "

न्यायदर्शनम् , 1/15, पृ० सं० 319-320.

2. " बुद्धिस्ट लाजिक", वाल्युम 1, पृ० सं० 290.

—> सम्भवतः इसी हेतु वाचस्पति मिश्र ने यह प्रकट किया कि धर्मेकीर्ति की साधनवाक्य के दो अवयव ही लक्ष्य हैं- हेतु और दृष्टान्त । श्वेतरात्रकी का कथन है कि दिङ्नाग और धर्मेकीर्ति के मतानुसार न्याय-वाक्य के वास्तविक अवयव दो ही थे:- व्याप्ति और पक्षधर्मता । ¹

बौद्धों की प्रमाण-सम्बद्ध मान्यताओं के ज्ञान के पश्चात् अब प्रश्न उठता है कि उनकी ये "प्रमाण-मान्यताये" किस विशेष आधार पर आधारित हैं ? यद्यपि "प्रमेय" के ज्ञान हेतु "प्रमाण" का ज्ञान अपेक्षित होता है, तथापि "प्रमाण" के सम्बन्ध में बौद्धों के इस प्रकार के विचार क्यों हैं ? यह जानने के लिए हमें कुछ हद तक उनकी "तत्त्वमीमांसा" पर भी दृष्टि डालनी पड़ती है। बौद्धों के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त कर्माङ्गवाद, अनात्मवाद, अपौरुषवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि हैं।

"सर्वमनित्यम्" यह बौद्ध-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। इसी अनित्यवाद को बौद्ध-दार्शनिकों ने क्षणिकवाद या कर्माङ्गवाद का रूप दिया। बौद्ध-दार्शनिकों के अनुसार "क्षण" की पारमार्थिक सत्ता नहीं हो सकती ; क्योंकि अर्थक्रियाक्षमता ही सत्ता है और अर्थक्रियाक्षम केवल स्वलक्षण है, जिसका प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है। कलित काल की कलारूप "क्षण" में यह सम्भव नहीं है, अतः "क्षण" की पारमार्थिक सत्ता नहीं हो सकती।² वास्तव में "क्षणिक" शब्द का अर्थ है :- "एक क्षण रहने वाला" अर्थात् जो वस्तु केवल क्षण भर रहती है, वह "क्षणिक" कहलाती है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार जो सत् है, विद्यमान है, वह सब "क्षणिक" है।³ —————>

1. "बुद्धिस्ट लाजिक", वाल्जुम 1, पृ० सं० 280.

2. दृष्टव्य :- "वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विश्लेषण"-पृ० सं० 172.

3. "यत् सत् तत् क्षणिकम्..... विश्राम्यति ॥ 2 ॥"

ज्ञानश्रीमिश्रनिबन्धावली, कर्माङ्ग-गाध्याय, प्रथम पादः, पृ० सं० 1.

—> एक काल में ही कारण का नाश हो जाता है और कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। अस्तुतः "क्षणा" वास्तविक नहीं, काल्पनिक है, केवल संज्ञा मात्र है।

बौद्ध-दर्शन का कार्य-कारण-भाव, कारण और कार्य का अनवरत प्रवाह क्षणिकवाद और शून्यवाद आदि सभी सिद्धान्त इनके एक विशिष्ट सिद्धान्त "प्रतीत्यसमुत्पाद" में समा जाते हैं। यह "प्रतीत्यसमुत्पाद" बौद्ध-दर्शन का सार है तथा अत्यंत गम्भीर विचार है। "प्रतीत्यसमुत्पाद" शब्द का अर्थ है:-

"कारणों के होने पर कार्यों की उत्पत्ति।" बौद्ध-दर्शन के अनुसार समुदाय या समष्टि ही कारण तथा "धर्म" शब्द बौद्ध-दर्शन में "तत्त्व" का समानार्थक है। इसी "प्रतीत्यसमुत्पाद" को ही "सादरा-शृङ्खला" भी कहा गया है।

वास्तव में सत्तार-बद्ध कालानुक्रमिकता वाला यही सिद्धान्त है। इसमें बताया गया है कि इस सत्तार में दुःख का कारण "जन्म" है, "जन्म" का कारण "भ्रम", "भ्रम" का "उपादान", "उपादान" का "तृष्णा", "तृष्णा" का कारण "वेदना", "वेदना" का कारण "स्पर्श", "स्पर्श" का "जडावत्तन" { उः इन्द्रिया } , "जडावत्तन" का "नामरूप", "नामरूप" का "विज्ञान", "विज्ञान" का कारण "संस्कार" तथा "संस्कार" का "अविद्या" है। यही बारह अङ्गों वाला "प्रतीत्यसमुत्पाद" है। दुःख, गति का नाम है। इसका अर्थ है कि सत्तार का प्रत्येक पदार्थ "क्षणिक" है। प्रत्येक पदार्थ का प्रत्येक क्षण नष्ट होना और उसकी जगह दूसरी वस्तु का आ जाना ही गति है। प्रत्येक पदार्थ "क्षणिक" है, इसका यह अर्थ भी निकलता है कि किसी पदार्थ में कोई स्थिर तत्त्व "आत्मा" या "द्रव्य" के रूप में नहीं, प्रत्येक पदार्थ "अनात्म" है।

जिस प्रकार बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-दर्शन का यह मूलभूत सिद्धान्त है कि "सर्वं दुःखम्" अर्थात् सब कुछ दुःखमय है, उसी प्रकार उसी सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा यह भी सिद्धान्त है कि :-—————>

—→ "सर्वमनात्मम्" अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी है, वह वात्मा से शून्य है। बौद्ध, वैदिक दर्शनों के समान ज्ञान-धारा के अतिरिक्त, इस ज्ञान-धारा का आधाररूप कोई स्थिर वात्मा नहीं मानते। यह भी कहा जा सकता है कि रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार-इन पाँच स्कन्धों से पृथक् "वात्मा" नाम की कोई वस्तु नहीं, यही "अनात्मवाद" है। "अनात्मवाद" के सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ है - "अद्रव्य का सिद्धान्त"। "अद्रव्य-सिद्धान्त" का अर्थ यह है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती, जो समय की दृष्टि से स्थिरता रखती हो और देश की दृष्टि से विस्तार रखती हो। यथार्थ वस्तु समय की दृष्टि से लम्बाई में सब ओर से कटी हुई है तथा देश की दृष्टि से चौड़ाई में सब ओर से कटी हुई है अर्थात् वह एक बिन्दुमात्र है, जिसके कोई अवयव नहीं, अथवा जिसमें अनेक अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी और द्रव्य नहीं। कोई भी बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय, चाहे अन्य दृष्टियों से वे एक दूसरे से कितने भी किड़ हों, स्थिर और विस्तार युक्त द्रव्य को कदापि नहीं मानते।

इन सबके अलावा बौद्धों का एक मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त है—
"अपीहवाद"। न्याय-वैशेषिक दर्शन में वस्तुओं में समानता की प्रतीति हेतु जो "सामान्य" ज्ञाति नामक पदार्थ माना गया है, उसे बौद्ध नहीं मानते। बौद्धों के मत में समानता की प्रतीति किसी भाक्प सत् सामान्य के कारण नहीं होती, अपितु अभाक्प निषेधात्मक समानता के कारण होती है। उदाहरणार्थ - संसार की समस्त गायें एक दूसरे से भिन्न हैं। उनमें केवल यही समानता होती है कि वे सास्नालाङ्गुलककुदुरविणाणादि से युक्त होती हैं, दूध देना इत्यादि एक कार्य करती हैं तथा समान कारणों से उनकी उत्पत्ति होती है। —————→

—> उनमें एक अभावात्मक समानता भी है। वह यह कि वे सभी "गार्हे" अन्य ४ अंगों ४ अश्वत्थि पशुओं से भिन्न हैं। इसे ही "अतद्व्यावृत्ति" कहा जाता है, जिसका अर्थ है :- उससे भिन्न ४ अतद्व्यावृत्ति की व्यावृत्ति अर्थात् निषेध। जैसे "गौ" शब्द द्वारा गौ से भिन्न ४ अश्वत्थि की व्यावृत्ति। बौद्ध-दर्शन में इसे "अपौह" नाम से पुकारा जाता है। यही बौद्ध-दर्शन में समानता की प्रतीति का हेतु है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार, बौद्धों द्वारा —> सम्मत क्षणिक स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही सकता है, क्योंकि स्वलक्षण की बाह्य सत्ता है। सामान्यलक्षण का इन्द्रियों से ग्रहण संभव नहीं, क्योंकि वह काल्पनिक है। अतः उसके ग्रहण का साधन एक अन्य प्रमाण अर्थात् "अनुमान" ही हो सकता है। सामान्यविषयक इस मान्यता के आधार मुख्य रूप से उपर्युक्त "अनात्मवाद" तथा "अपौहवाद" हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ये ही सब बौद्ध-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त हैं, जिन पर बौद्ध-दर्शन का प्रमाण विवेचन आधारित है।

"द्वितीय अध्याय" =====

"न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा में अनुमान-विवेचन" :-
=====

न्याय-वैशेषिक दर्शन में चार प्रकार का "प्रमाण" माना गया है। "प्रमाण" का अर्थ है :- "प्रमायाः करणम् प्रमाणम् ।" "प्रमा" यथार्थ-ज्ञान को कहा है। यथार्थ-ज्ञान का "करण" ॥ साधन ॥ ही प्रमाण है। "प्रमाण" शब्द का निर्वचन "प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्" भी माना जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में "प्रमाण" के चार प्रकार निम्नलिखित माने गये हैं :-

1. प्रत्यक्ष , 2. अनुमान , 3. उपमान , 4. शब्द ।

ज्ञानेन्द्रिय और अर्थ ॥ वस्तु ॥ के सन्निकर्ष से जो यथार्थ अनुभव उत्पन्न होता है, उसे "प्रत्यक्ष" ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के उत्पन्न करने में जो सबसे अधिक साधक हो, वही "प्रत्यक्ष-प्रमाण" है। "प्रत्यक्ष" के पश्चात् "अनुमान" होता है। जैसा कि कहा है :-

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्वतच्छेषवत्सा-

मान्यतौदृष्टं च । "

॥न्यायसूत्र 1/1/5॥

"अनुमान" शब्द "अनु" तथा "मान" शब्द से बना है। "अनु" का अर्थ है - "पीछे" तथा "मान" का अर्थ है - "ज्ञान" । अर्थात् "अनुमान", उस ज्ञान को कहते हैं, जो किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात् होता है। किसी लिङ्ग ॥हेतु॥ के ज्ञान से उस लिङ्ग की धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना "अनुमान" कहलाता है। कहा भी है - अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानम् । " अर्थात् जिस ज्ञान से किसी लिङ्ग को देखकर, परोक्ष अन्य वस्तु का ज्ञान किया जाता है, उसे "अनुमान" प्रमाण कहते हैं।

पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है उसे "उपमान" कहते हैं। अर्थात् जिस वस्तु से कोई पूर्व परिचय नहीं है, उसको अन्य वस्तु की उपमा से प्रत्यक्ष होने पर पहिचानता ही "उपमान" है।

वाप्त-पुरुष के वाक्य को शब्द अर्थात् "शब्द-प्रमाण" कहते हैं। "वाप्त" का तात्पर्य है - "यथार्थ वक्तृता"। यथार्थ वक्तृता तथा श्रुति से प्राप्त ज्ञान "शब्द-ज्ञान" तथा इस ज्ञान की प्राप्ति का साधन "शब्द-प्रमाण" है।

इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक दर्शन में अन्य कोई प्रमाण का प्रकार नहीं माना गया है तथा इनके अलावा जो भीमांसा आदि अन्य दर्शनों ने प्रमाण के प्रकार बताये हैं, उनका अन्तर्भाव भी ये इन्होंने चार प्रकार के प्रमाणों में कर देते हैं।

इन चारों प्रमाणों में से "अनुमान" प्रमाण का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है। जिस वस्तु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न हो, वह "परोक्ष" कहलाती है। जिस विहन या प्रक्रिया के द्वारा "परोक्ष" वस्तु का ज्ञान हो, उसे "अनुमान" कहते हैं। हेतु या लिङ्ग के परामर्श के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान होता है, इसलिये "लिङ्ग-परामर्श" को "अनुमान" कहते हैं। अत्र श्रुत उठता है कि "परामर्श" क्या है ? न्याय की अनुमान-प्रक्रिया यह है कि पाकाला आदि में बार-बार अग्नि और धूम का सहचार देखकर, धूम का अग्नि के साथ नियत या स्वाभाविक सम्बन्ध है, यह ज्ञात हो जाता है। —————>

→ पाकाला में जो धूम्रगान है, वह "पृथम" है। फिर वही व्यक्ति पर्वतादि में "धूम" को देखता है। यह "धूम्रगान", द्वितीय" है। इसके पश्चात् धूम और अग्नि के सम्बन्ध का स्मरण होता है कि "जहां धूम होता है, वहां अग्नि होती है।" इस सम्बन्ध-स्मृति के साथ पर्वत के धूम-दर्शन को मिलाकर "अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध वाला धूम यहाँ है" यह ज्ञान होता है। यह धूम्रगान "तृतीय" है। इसे ही "न्याय" में "परामर्श-ज्ञान" कहा जाता है तथा परामर्श-ज्ञान को ही अनुमान-प्रमाण कहते हैं, जो "अनुमिति" का जनक है। अतः हम यह कह सकते हैं कि न्याय में किन्हीं दो वस्तुओं {हेतु तथा साध्य} के सम्बन्ध-दर्शन के अनन्तर लिङ्ग-स्मृति आदि के क्रम से होने वाला ज्ञान ही "परामर्श" है तथा वही "अनुमान-प्रमाण" है।

इस "अनुमान" प्रमाण के "न्यायसूत्र" में तीन भेद बताये गये हैं:-

1. पूर्ववत् , 2. शेषवत् , 3. सामान्यतोदृष्ट ।

"कारण" से कार्य" के अनुमान को "पूर्ववत्" अनुमान कहते हैं, जैसे मेघ को जल से भरा देखकर "वृष्टि" का अनुमान "पूर्ववत्" अनुमान है। "कार्य" को देखकर "कारण" का अनुमान "शेषवत्" अनुमान है, जैसे नदी में होने वाली बाढ़ को देखकर वर्षा का अनुमान "शेषवत्" अनुमान है। तीसरा अनुमान "सामान्यतोदृष्ट" वहाँ होता है, जहाँ वस्तु विशेष की सत्ता का अनुभव न हो कर उसके सामान्य रूप का ही हमें परिचय प्राप्त होता है। जैसे :- सूर्य को प्रातः काल पूर्वदिशा में देखने के पश्चात् सायंकाल को पुनः पश्चिम दिशा में देखकर "सूर्य में गति" का अनुमान "सामान्यतोदृष्ट" अनुमान है। "पूर्ववत्" तथा "शेषवत्" अनुमान की एक दूसरी व्याख्या भी मिलती है। →

—> अन्वयमुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान "पूर्ववत्" तथा व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान "शेषवत्" कहलाता है। "शेषवत्" का इन दो अर्थों के अलावा एक अन्य अर्थ भी शास्त्रकारों ने किया है :-

"प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सप्रत्ययः ।"

अर्थात् सम्भावितों का प्रतिषेध किए जाने पर, अन्य सम्भावित पदार्थ के न रहने पर, जो बच जाए, उसे "शेष" कहते हैं। इस "शेष" के द्वारा जो अनुमान किया जाए, वह "शेषवत्" अनुमान कहा जाता है। जैसे :- विशेष गुण होने के कारण "शब्द", काल, दिक् तथा मन में नहीं है। अत्रिग्राह्य होने के कारण "शब्द", गति, जल, तेज, वायु, तथा आत्मा का विशेष गुण नहीं हो सकता। शेष रहा "आकाश", नवम द्रव्य कोई दूसरा है नहीं। अतः "शब्द" आकाश का गुण है। यह "शेषवत्" अनुमान से सिद्ध होता है।

इसके अलावा एक अन्य प्रकार से भी "अनुमान" के भेद किए गए हैं:-

1. स्वार्थानुमान, 2. परार्थानुमान ।

अपने ही लिए जब अनुमान किया जाता है, तब वह "स्वार्थानुमान" होता है, परन्तु यदि "अनुमान" किसी दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए किया जाता है, तब वह "परार्थानुमान" होता है। भारतीय तार्किकों के अनुसार यदि अनुमान "स्वार्थ" हो अर्थात् अपने लिए ही हो, तो उसे कुम्बड वाक्यों के रूप में प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। जब अनुमान "परार्थ" होता है अर्थात् जब दूसरों के सम्मुख किसी तथ्य के प्रदर्शन की आवश्यकता होती है, तो अनुमान को कुम्बड एवं शृङ्खलित रूप में प्रकट करने की आवश्यकता होती है। अनुमान की इस शृङ्खला को नैयायिकों ने "पञ्चावयव-वाक्य" के रूप में व्यक्त किया है और ये पञ्चावयव-वाक्य हैं :-

1. प्रतीक्षा पर्वत अग्निवाला है।
2. हेतु धूमवाला होने से।
3. उदाहरण जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे पाकशाला में।
4. उपनय इसी प्रकार यह पर्वत अग्निव्याप्य धूमवाला है।
5. निगमन अतः यह पर्वत अग्निवाला है।

उपर्युक्त पाँच-वाक्यों के द्वारा ही "पराधीनमान" प्रकट किया जाता है। इनमें से प्रतीक्षा में, सिद्ध की जाने वाली वस्तु का निर्देश किया जाता है। हेतु, अनुमान को सिद्ध करने वाले कारण का निर्देश करता है। तीसरे वाक्य "उदाहरण" में उदाहरण के साथ हेतु और साध्य के नियत साहचर्य-नियम का उल्लेख किया जाता है। "उपनय" में व्याप्तिविशिष्ट पक्ष का बोध होता है। इतना होने पर अनुमान के द्वारा प्रतीक्षा की सिद्धि हो जाती है और वह "निगमन" कहलाता है।

नव्य-न्याय के अनुसार "अनुमान" का एक अन्य प्रकार से भी विभाजन किया गया है, उसके अनुसार अनुमान तीन प्रकार का होता है :-

1. केवलान्वयी, 2. केवलव्यतिरेकी, 3. अन्वयव्यतिरेकी।

यह विभाजन अधिक तर्कानुकूल माना जाता है, क्योंकि यह अनुमान को साधारण रूप "व्याप्ति" को प्राप्त करने के प्रकार के ऊपर निर्भर है।

"केवलान्वयी" अनुमान वहाँ होता है, जहाँ हेतु, साध्य के साथ सर्वदा सत्तात्मक रूप से सम्बद्ध रहता है। यहाँ हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति का ज्ञान अन्वयमुखेन ही होता है, व्यतिरेकमुखेन नहीं। जैसे:-

समस्त ज्ञेय पदार्थ अभिधेय होते हैं ।

॥ प्रतिज्ञा ॥

एक ज्ञेय पदार्थ है ।

॥ हेतु ॥

अतएव एक अभिधेय है ।

॥ निगमन ॥

यहां हम कोई ऐसा उदाहरण नहीं बता सकते, जहां "ज्ञेय" वस्तु "अभिधेय" न हो।

दूसरा "केवलव्यतिरेकी" अनुमान वहां होता है, जहां हेतु साध्य के साथ केवल निष्कारक रूप से ही सम्बद्ध रहता है जैसे :-

इतर पदार्थों से भिन्न न होने वाला गन्ध नहीं रखता ।

॥ प्रतिज्ञा ॥

पृथ्वी गन्धवाली है ।

॥ हेतु ॥

अतएव पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है ।

॥ निगमन ॥

इस अनुमान में साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति दिखाई जाती है। साधन "गन्ध" पक्ष "पृथ्वी" के अलावा और कहीं देखा सम्भव नहीं है, इसलिए साधन और साध्य के बीच अन्वयमूलक व्याप्ति नहीं बन सकती।

तीसरे अनुमान "अन्वयव्यतिरेकी" में "हेतु", "साध्य" के साथ दोनों प्रकारों से सम्बद्ध रहता है :- अन्वय के द्वारा तथा व्यतिरेक के द्वारा। जैसे:-

अन्वय :- जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है, जैसे पाकाला ।

व्यतिरेक :- जहां अग्नि का अभाव है, वहां धूम का भी अभाव है, जैसे जलाशय ।

यहां हेतु "धूम" अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकारों से साध्य के साथ सम्बद्ध है, अतः यह "अन्वय व्यतिरेकी" अनुमान है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "अनुमान" के दो मुख्य अङ्ग हैं:-

"व्याप्ति और पक्षधर्मता" अर्थात् व्याप्ति से युक्त हेतु का पक्ष में होना ।

पक्षधर्मता के ज्ञान को "पराभर्ता" कहते हैं।

"हेतु" के साधारण पर ही अनुमान होता है। यदि हेतु विशुद्ध हो अर्थात् अपेक्षित हेतु रूपों से युक्त हो, तो अनुमान शुद्ध होता है, अन्यथा अनुमान दूषित होता है और उस हेतु को "हेतुवाभास" कहते हैं। अतः जिस अनुमान में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों दृष्टान्त हो, उसके "हेतु" की पाँच रूपों से युक्त होना चाहिए:-

1. पक्षवृत्तित्व :- हेतु को पक्ष में रहना चाहिए, जैसे धूम को पक्ष में रहना।
2. सप्तवृत्तित्व:- जैसे धूम को "पाकशाला" में रहना।
3. विषयवृत्तित्व:- जैसे धूम का "जलाशय" में न रहना।
4. अबाधितविषयत्व:- पक्ष में साध्य का अभाव किसी अनन्तर प्रमाण से प्रमाणित न हो। जैसे :- "अग्नि शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है, जैसे जल। यहाँ "अग्नि" में शीतलता का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, अतः यह हेतु "अबाधितविषय" हुआ। इस दृष्टि से रहित हेतु "अबाधितविषय" होता है।
5. अतःप्रतीतिशब्द:- किसी अनुमान में जो "हेतु" हो, उसका "प्रतिपक्ष" अर्थात् क्रिड हेतु, जिससे उस अनुमान के साध्य के विपरीत साध्य की सिद्धि हो जाय, नहीं होना चाहिए। जैसे :- "शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्य धर्म से रहित है, जैसे:- "धट"।

इस अनुमान का प्रतिपक्ष होगा :-

"शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्य धर्म से

रहित है, जैसे :- "परमाणु"।

यहाँ हेतु "अनित्यत्व" का प्रतिपक्षी हेतु "नित्यत्व" शब्द में "नित्यता" की सिद्धि कर रहा है, अतः हेतु को इस प्रकार के दृष्टि से युक्त नहीं होना चाहिए।

केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी अनुमान के लिए "हेतु" को चार-चार रूपों से युक्त होना चाहिए। "केवलान्वयी" में "विषयव्यापृत्तित्व" नामक हेतुरूप नहीं होता तथा केवलव्यतिरेकी में "समव्यतिरेकत्व" नामक हेतुरूप नहीं होता।

यदि "हेतु" इन रूपों में से किसी एक तथा अधिक रूप से युक्त न हो, तो वह "हेतुवाभास" कहलाता है और यह "हेतुवाभास" पाँच प्रकार का बताया गया है :-

1. असिद्ध, 2. किद्ध, 3. सनैकान्तिक { सव्यभिचार }
4. पुकरणसम { सत्पुत्तिज } तथा 5. कालात्ययापदिष्ट { बाधित }

इसके बाद हम आते हैं :- "अनुमान" के मुख्य आधार "व्याप्ति" पर। यह "व्याप्ति" क्या है ? हेतु का साध्य के साथ नियत साहचर्य ही "व्याप्ति" कहलाता है। हेतु और साध्य के बीच जो व्यापक सम्बन्ध रहता है, उसी के द्वारा अनुमान होता है। इस सम्बन्ध को ही "व्याप्ति" कहा गया है। अनुमान-प्रक्रिया में व्याप्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। "व्याप्ति" के लक्षण के विषय में पर्याप्त विवेचना नव्य-न्याय के ग्रन्थों में की गई है। "व्याप्ति-सम्बन्ध" को अविनाभाव भी कहते हैं। "अविनाभाव" का अर्थ है :- जो वस्तु जिसके बिना विद्यमान न रह सके, उनका सम्बन्ध अर्थात् "हेतु" सदैव "साध्य" से सम्बद्ध रहता है। साध्य के अभाव में, हेतु की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी, परन्तु जहाँ अग्नि होगी, वहाँ यह आवश्यक नहीं कि धूम हो। इस प्रकार "धूम" के रहने का स्थान कम है और "अग्नि" का उससे कहीं अधिक, अतः "धूम" व्याप्य है तथा अग्नि "व्यापक" है। अनुमान सदैव "व्याप्य" को देखकर "व्यापक" का किया जाता है। "व्यापक" को देखकर "व्याप्य" का अनुमान नहीं किया जा सकता।

"व्याप्ति" का अर्थ "व्यापकता" है। "व्याप्ति" से दो वस्तुओं के नियत साहचर्य का बोध होता है, जिनमें एक "व्याप्य" है तथा दूसरी "व्यापक" है। दो वस्तुओं के एक साथ विद्यमान होने से ही उनमें व्याप्ति की कल्पना हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक हमें उनके सदा नियम से एकत्र रहने की सूचना न मिले। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है" इस साहचर्य को हम नियत रूप से पाते हैं, अतः धूम तथा अग्नि की व्याप्ति न्यायसङ्गत प्रतीत होती है। इसके विपरीत "अग्नि" के साथ "धूम" की व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अग्नि के सभी स्थलों पर धूम सदा विद्यमान नहीं रहता। उदाहरणार्थ :- तप्त लौ-पिण्ड में "अग्नि" तो रहती है परन्तु "धूम" नहीं। "अग्नि" के साथ "धूम" का सम्बन्ध तभी सिद्ध होता है, जब "आहुन्धनसंयोग" हो। इस "आहुन्धनसंयोग" को न्याय में "उपाधि" कहते हैं। व्याप्ति के लिए "उपाधि" का न होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः हम कह सकते हैं कि हेतु और साध्य के उस साहचर्य को "व्याप्ति" कहा जाता है जो उपाधिहीन हो अर्थात् किसी विशेष अवस्था पर निर्भर न हो। यह हेतु पद और साध्य-पद का नियत अनौपाधिक सम्बन्ध है। इसलिए "व्याप्ति" का उचित लक्षण है :- हेतु और साध्य के बीच नियत तथा उपाधिरहित सम्बन्ध।

"व्याप्ति" का अर्थ जानने के पश्चात् अब प्रश्न उठता है कि व्याप्ति का ज्ञान हमें किस प्रकार होता है ? हम केवल कतिपय स्थानों पर ही धूम और अग्नि का साहचर्य देखते हैं और व्याप्ति नियम सार्वदेशिक, सार्वकालिक बना देते हैं :- जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है"। ऐसी व्याप्ति के यथार्थ होने के लिए हमारे पास साधन ही क्या है ? इस विषय में न्याय-दर्शन का मत वेदान्त-दर्शन के अनुकूल है। न्याय-दर्शन के अनुसार जहाँ दो वस्तुएँ सदा एक साथ रहती हैं और इस नियम का उल्लंघन कहीं भी नहीं दीक्षा, वहीं यथार्थ व्याप्ति होती है।

इस दर्शन में "व्याप्ति-सम्बन्ध" को "भूयोदर्शनजन्य" माना है। इसका तात्पर्य यह है कि बार-बार साहचर्य देखने से ही हमें "व्याप्ति" का निश्चय होता है। "व्याप्ति" की यथार्थता की परीक्षा के लिए न्यायशास्त्र में कुछ साधन माने गये हैं, वे हैं :-

1. बन्वय, 2. व्यतिरेक, 3. व्यभिचाराग्रह
4. उपाधिनिरास, 5. तर्क, 6. सामान्यलक्षण ।

इनमें से बन्वय और व्यतिरेक तो व्याप्ति की यथार्थता के परीक्षा के लिए आवश्यक साधन हैं ही, किन्तु इनके अलावा अन्य साधनों की आवश्यकता को भी झुल्लाया नहीं जा सकता । "न्याय" की व्याप्ति-स्थापन-प्रणाली, इस प्रकार की है :- प्रथमतः हम यह देखते हैं कि दो वस्तुओं में बन्वय सम्बन्ध है अर्थात् एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु भी रहती है। इसका एक भी व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। जैसे- "जहाँ-जहाँ धूम देखा गया है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी देखी गई है।" बन्वय के बाद "व्यतिरेक" की सहायता ली जाती है अर्थात् "अग्नि" के न रहने पर "धूम" भी नहीं पाया जाता। एक के न रहने पर दूसरे का न रहना ही "व्यतिरेक" कहलाता है। इन दोनों के अलावा "व्यभिचाराग्रह" भी व्याप्ति-निश्चय का सहायक होता है। जिस व्याप्ति का निश्चय बन्वय और व्यतिरेक से हुआ, उसका कोई भी व्यतिक्रम या व्यभिचार यदि अभी तक न देखा गया हो, तो यह "व्यभिचाराग्रह" कहलाता है। व्याप्ति-परीक्षा का चौथा साधन "उपाधि-निरास" है। अर्थात् "व्याप्ति" के बीच "उपाधि" नहीं होनी चाहिए। "उपाधि" वह है, जिसका साहचर्य किसी अनुमान के साध्य के साथ रहता है, किन्तु हेतु या साधन के साथ नहीं रहता। व्याप्ति-निश्चय के समय "उपाधि" का निराकरण होना आवश्यक है। अनुकूल तर्क व्याप्ति की यथार्थता के परीक्षा का पाँचवाँ साधन है। —————>

—> धूम तथा अग्नि की व्याप्ति के लिए तर्क की अनुकूलता है कि "यदि पर्वत में अग्नि न होती, तो धूम भी न होता।" पर धूम की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, अतः "तर्क" दोनों के साहचर्य का द्योतक है। छठा और अन्तिम साधन है :- "सामान्यलक्षणा" । यह एक निश्चित तथ्य है कि हम सभी कालों और सभी देशों में धूम और अग्नि का सम्बन्ध नहीं देख सकते, तथापि कुछ-कुछ स्थानों तथा कालों में देखे गये इन दोनों के सम्बन्ध से, इन दोनों में अनुगत जाति "धूमत्व" तथा "अग्नित्व" के प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति-ज्ञान किया जाता है।

उपर्युक्त छः साधनों से प्रमाणित "व्याप्ति" को ही सही अर्थ में "व्याप्ति" कहा जाता है।¹

न्याय और वैशेषिक दर्शन का "अनुमान"-विवेचन लगभग एक समान ही है, अतः अब हम "पूर्व-मीमांसा में अनुमान विवेचन" पर आते हैं।

मीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा का मुख्य विषय है :- "धर्म"। "प्रत्यक्ष" आदि प्रमाणों से "धर्म" का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विचार इस दर्शन में किया गया है। यहाँ भाट्टमत के अनुसार अज्ञात तत्त्व का अर्थज्ञान ही "प्रमा" है तथा उस अनधिगत पदार्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला करण "प्रमाण" है। प्रभाकर के मत में स्मृति से भिन्न "भावित्" ही "अनुभूति" है और वही "प्रमाण" है। "प्रमाण" के प्रभाकर के अनुसार पाँच प्रकार हैं :-

1. द्रष्टव्य :- "तत्त्वविन्तामणि" का "व्याप्तिग्रहोपाय प्रकरण" तथा "भाषा-परिच्छेद", कारिका 137 की "मुक्तावली" ।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थपटित और शब्द । कुमारिल भट्ट इन पाँच के अलावा अन्वय या अनुपलब्धि को भी छठा "प्रमाण" मानते हैं।

इनमें से "अनुमान प्रमाण" की लक्षण एवं प्रक्रिया को साधारणतः न्याय-वैशेषिक दर्शन के समान ही इस दर्शन में भी माना गया है तथापि कुछ अंशों तक भेद भी है, जैसे :- इन्होंने "न्याय" के समान पंचावयव-वाक्य न मानकर प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त अथवा दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन इन तीन वाक्यों को ही "अवयव" माना है। इसके अलावा अनुमान-सम्बद्ध विवेचन पूर्वमीमांसा-दर्शन में भी "न्याय-दर्शन" के समान ही है।

===

"तृतीय अध्याय" =====

"बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन के अनुमान-विषयक विचारों की तुलना" :-
=====

बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुमान-विषयक विचारों की पृथक्-पृथक् जान लेने के पश्चात् अब हम इन दोनों दर्शनों के बीच अनुमान विषयक विचारों की तुलना पर आते हैं। बौद्धों और नैयायिकों तथा मीमांसकों के बीच छः सौ वर्षों ॥ पाँचवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी ई० ॥ तक जो दार्शनिक संधि चला, उसका मूल आधार दोनों के प्रमाण-विषयक, विशेषकर अनुमान-विषयक विचार भी थे।

जब हम बौद्ध दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक दर्शन के प्रमाण-विषयक विचारों पर दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं कि जहाँ एक ओर न्याय-वैशेषिक तथा पूर्व-मीमांसा-दर्शन बाह्यार्थवादी होने के कारण प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की यथार्थता को स्वीकारते हैं, वहाँ दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को कल्पित मानते हैं, पारमार्थिक नहीं। बौद्ध-दर्शन में केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही प्रमाण-प्रमेय-भाव स्वीकार किया गया है और इसी दृष्टि से इस दर्शन में प्रमाणों का विवेचन किया गया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में यथार्थ ज्ञान का साधन या करण "प्रमाण" माना गया है, जबकि बौद्ध-दर्शन में उस ज्ञान को "प्रमाण" माना गया है, जबकि वह अपने द्वारा उपदर्शित वस्तु को प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखता है अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु का बोध कराया जाता है, यदि वह उसी रूप में प्राप्त हो जाती है, तो वह ज्ञान "प्रमाण" कहलाता है।

जहाँ न्याय-दर्शन में "प्रमाण" के चार भेद, वैशेषिक-दर्शन में दो भेद, तथा पूर्वमीमांसा-दर्शन में पाँच और छः भेद किए गए हैं वहाँ बौद्ध-दर्शन को "प्रमाण" के दो ही प्रकार स्वीकार्य हैं :- १. प्रत्यक्ष तथा अनुमान ।

इन दोनों के अलावा बौद्ध किसी भी अन्य "प्रमाण" को नहीं मानते तथा इनके अलावा जो प्रमाण अन्य दर्शनों ने माने हैं, उन सभी का अन्तर्भाव इन्होंने दो प्रकार के प्रमाणों में कर देते हैं।

इसके अलावा "प्रमाण" के विषय के सम्बन्ध में बौद्ध-दर्शन की एक नवीन उद्भावना है। "प्रमाण" का विषय इस दर्शन में दो प्रकार का माना गया है- ग्राह्य और अध्यवसेय। ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य। जिसके आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ग्राह्य विषय है। अध्यवसेय अर्थात् निश्चय करने योग्य। जो पदार्थ प्रापणीय है, वह अध्यवसेय है।

बौद्ध-दर्शन का मन्तव्य है कि "प्रमाण" ग्रहण करने योग्य ॥ उपादेय ॥ अथवा त्यागने योग्य ॥ हेय ॥ पदार्थ को प्रदर्शित करते हैं। इससे मनुष्य की उस अर्थ में प्रवृत्ति होती है। न्याय-दर्शन में तीन प्रकार के "अर्थ" ॥ वस्तु ॥ माने गये हैं :- उपादेय, हेय और उपेक्षणीय। ^{जबकि जो उपादेय तथा हेय को ही स्वीकार कर, उपेक्षणीय} अर्थ को पृथक् अर्थ नहीं मानते । उपेक्षणीय अर्थ का अन्तर्भाव तो "हेय" अर्थ में ही कर देते हैं।

बौद्ध-दर्शन "प्रमाण-व्यवस्था" को मानता है, जबकि न्याय-दर्शन "प्रमाण-संप्लव" को मानता है। "प्रमाण-संप्लव" का तात्पर्य है :- "किसी प्रमेय का कई प्रमाणों द्वारा ग्रहण होना ।" जबकि "प्रमाण-व्यवस्था" का अर्थ है :- प्रमेय अर्थ में अनेक प्रमाणों का न जा सकना ।" नैयायिक कुछ अंशों में "प्रमाण-व्यवस्था" को भी मानते हैं। भारतीय-दर्शन में "प्रमाण-संप्लव" तथा "प्रमाण-व्यवस्था" को लेकर प्राचीन काल से ही विवाद रहा है। "न्याय-भाष्य" में "प्रमाण-संप्लव" तथा "प्रमाण-व्यवस्था" दोनों को विषय-भेद अथवा काल-भेद से स्वीकार किया गया है। —————>

—→ क्योंकि दोनों ही लौक्यसिद्ध हैं।¹ उदाहरणार्थ :- "यहां अग्नि है।" इस आप्तवाक्य से "अग्नि" का ज्ञान होता है। समीप जाता हुआ व्यक्ति धूम को देखकर उसी अग्नि का "अनुमान" करता है और समीप आकर "प्रत्यक्ष" से अग्नि का ज्ञान करता है। यहां "प्रमाणसंप्लव" है, परन्तु कहीं-कहीं "प्रमाण-व्यवस्था" भी देखी जाती है, जैसे :- "स्वर्गकामो यजेत"। यहां केवल "शब्द" प्रमाण ही है। लौकिक मनुष्य को न तो स्वर्ग का प्रत्यक्ष होता है, न ही अनुभव इसी प्रकार जो वस्तु हमें प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसमें न अनुमान किया जाता है, न शब्द-प्रमाण की आवश्यकता होती है, अतः यहां "प्रमाण-व्यवस्था" है।

दिङ्नाग ने "प्रमाण-व्यवस्था" को ही स्वीकार करते हुए "प्रमाण-संप्लव" का विरोध किया था। इनके मत में "प्रमाण-संप्लव" संभव नहीं, क्योंकि प्रमाण विशिष्ट विषय वाले हैं। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय "सामान्यलक्षण" नहीं हो सकता।^{तथा अनुमान का ग्राह्य विषय 'स्वलक्षण' नहीं हो सकता।} दिङ्नाग-सम्प्रदाय के अनुसार प्रतिबन्ध या व्याप्ति का ग्रहण सामान्य धर्मों से होता है, अतः अनुमान का विषय "सामान्यलक्षण" ही है। स्वलक्षण, जो अन्तिम विशेष धर्म है, उसके साथ प्रतिबन्ध {व्याप्ति} का ग्रहण ही नहीं सकता, अतः वह अनुमान का विषय नहीं हो सकता। दोनों प्रमाण एक दूसरे के विषय-क्षेत्र में कथंमपि प्रवेश नहीं पा सकते। यही "प्रमाण-व्यवस्था" है, जो बौद्धों को स्वीकार्य है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण को जहां न्याय में "इन्द्रियार्थसन्निकर्ष" से उत्पन्न हुआ माना गया है, वहां बौद्ध-दर्शन में कल्पनारहित ज्ञान को प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा इसकी प्राप्ति के साधन को प्रत्यक्ष-प्रमाण माना गया है।

"अनुमान-प्रमाण" के विषय में बौद्ध और नैयायिकों में काफी समय तक अत्यन्त विवाद रहा, जिसके फलस्वरूप दर्शन के इन दोनों सम्प्रदायों को अपने सिद्धान्तों की नवीन-नवीन व्याख्यायें करनी पड़ी तथा इससे दोनों के अनुमान-विषयक विचारों में अत्यधिक निखार आया और "अनुमान" का स्वरूप बहुत अधिक परिष्कृत हुआ। इसलिए इस काल के तर्कों को हम भारतीय-दर्शन के लिए "वरदान" कह सकते हैं।

न्याय-दर्शन के अनुसार "चिह्न" लिङ्ग के ज्ञान से उस पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना, जिसमें वह "चिह्न" विद्यमान हो, "अनुमान" कहलाता है। यह वह ज्ञान है जो अन्य ज्ञान के पश्चात् आता है। "अनुमान" का यौगिक अर्थ है:- "किसी वस्तु के पश्चात् मापना।" लिङ्ग को जानकर "लिङ्गी" का ज्ञान ही "अनुमान" कहलाता है। धूम को देखकर "अग्नि" का ज्ञान "अनुमिति" है तथा इस ज्ञान की प्राप्ति का साधन "अनुमान" प्रमाण है। इसके विपरीत बौद्ध-दर्शन में अविनाभावी सम्बन्ध का ज्ञान जब कहीं धूम को देखता है, तो यही "अनुमान" है। इससे "अग्नि" की पुतीति होती है। अनुमान के विषय के सम्बन्ध में दिङ्मनाग ने एक अत्यन्त रोचक प्रश्न उठाया है, जिसका उल्लेख "न्यायवार्तिक-तार्थ्यटीका" में आता है। हम धूम से अग्नि का अनुमान नहीं करते हैं, क्योंकि यह कोई नया ज्ञान नहीं है। हम पहले से जानते हैं कि धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार अग्नि और पर्वत के परस्पर सम्बन्ध का अनुमान हमने किया, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्बन्ध के लिए दो वस्तुओं का होना आवश्यक है, जबकि "अनुमान" में हमारे पास केवल एक ही वस्तु अर्थात् "पर्वत" है, क्योंकि "अग्नि" तो दिखाई नहीं देती। जिसका हम अनुमान करते हैं, वह न तो अग्नि है, न ही पर्वत है, बल्कि ऐसा पर्वत है, जिसमें "अग्नि" वर्तमान है अर्थात् "अग्निविशिष्ट पर्वत" का अनुमान करते हैं।¹

जहाँ न्याय-दर्शन में "सद्हेतु" के पाँच रूप बताये गये हैं, वहाँ बौद्ध, हेतु को क्रिप-सम्पन्न मानते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार हेतु को निम्नलिखित पाँच रूपों से युक्त होना चाहिए, तभी वह सद्-हेतु कहलाता है :-

1. पक्षवृत्तित्व, 2. सपक्षवृत्तित्व, 3. विपक्षव्यावृत्तित्व,
4. अबाधितविषयत्व, 5. असत्प्रतिपक्षत्व।

बौद्ध-दर्शन में इनमें से पहले तीन रूपों अर्थात् "पक्ष में विद्यमान होना, सपक्ष में विद्यमान होना तथा विपक्ष में विद्यमान न होना" को ही सद्हेतु के लिए आवश्यक बताया है। अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दोनों रूप बौद्ध-दर्शन के "हेतु" में आ ही नहीं सकते, क्योंकि बौद्ध "प्रमाण-व्यवस्था" को मानते हैं। दिङ्नाग ने "हेतु" का लक्षण यह दिया है :- "जो ग्रह्य अर्थात् पक्ष का धर्म उस पक्ष के वश से व्याप्त है, वह "हेतु" है।"

"हेतु" के समान असद्हेतु अर्थात् हेतुवाभास का क्रिपण भी बौद्ध तथा न्याय-दर्शन में किया गया है। जहाँ न्याय-दर्शन पाँच प्रकार का "हेतुवाभास" असिद्ध, क्रिद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम, कालात्ययापदिष्ट मानता है, वहाँ बौद्ध-दर्शन में तीन प्रकार के ही हेतुवाभास होते हैं :- असिद्ध, क्रिद्ध तथा अनैकान्तिक। इन तीनों हेतुवाभासों के भी इस दर्शन में अनेक प्रभेद किये गये हैं।

जैष्ठिक और बौद्ध-न्याय दोनों ने ही "अनुमान" के स्पष्ट रूप से दो भेद किए हैं:-

1. स्वार्थानुमान 2. परार्थानुमान ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने स्वार्थानुमान का रूप यह माना है कि जब लिङ्ग दर्शन और लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध-स्मरण व्याप्ति-स्मरण से अप्रत्यक्ष वार्थ की अनुमिति हो जाती है, तो यह स्वार्थानुमान है।¹ जब शब्दों द्वारा दूसरे की किसी वस्तु का अनुमान कराया जाता है, तो वहाँ पंचावयव-वाक्य का प्रयोग किया जाता है, यही परार्थानुमान है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार स्वार्थानुमान में लिङ्ग "अनुमेय" में रहता है जैसे "पर्वत में अग्नि है" इस अनुमान में "अग्नि" अनुमेय है।, सषक्ष में रहता है। पाक्वाला सषक्ष है। और विषक्ष में नहीं रहता जलाशय विषक्ष है। "हेतु" के इन तीन रूपों को ध्यान में रखकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाए, वह "स्वार्थानुमान" कहा जाता है। इसलिए धर्मकीर्ति ने कहा है:-

" तत्र स्वार्थं त्रिरूपोल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।" 2° "

अर्थात् "अनुमेय" में त्रिरूप लिङ्ग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे "स्वार्थानुमान" कहते हैं। "ज्ञान" को स्वार्थानुमान और "कथन" को परार्थानुमान कहा गया है। परार्थानुमान में वाक्यों के अर्थात् अवयवों के द्वारा, दूसरों की अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। अर्थात् "त्रिरूपलिङ्ग का कहना" परार्थानुमान है, जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है:-

" त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।" 3°

1. "स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाऽप्रत्यक्षाऽर्थानुमीयते ।" न्यायभाष्य

न्यायदर्शनम् 1/1/5, पृ० सं० 291, पृ० 13°

2. न्यायविन्दुटीका 2/3

3. न्यायविन्दुटीका 3/1

वचनों के द्वारा त्रिरूपलिङ्ग के कथन को "परार्थानुमान" कहते हैं। ये तीन रूप हैं:-

"अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति।" 1.

किसी वस्तु का मिलना "उपलब्धि" और न मिलना "अनुपलब्धि" है। जैसे :- उपलब्धि के योग्य समस्त सामग्री विद्यमान होने पर भी किसी विशेष स्थान पर कोई वस्तु न हो तो वहाँ उसकी "अनुपलब्धि" होती है। वहाँ "अनुपलब्धि" नामक हेतु रूप के कथन द्वारा अनुमान किया जाता है।

जो पदार्थ अपने हेतु की अपेक्षा कर ही विद्यमान होता है और हेतुसत्ता से भिन्न अन्य किसी हेतु की अपेक्षा नहीं रखता, वह "स्वसत्तामात्रभावी" साध्य है। उस "स्वसत्तामात्रभावी" साध्य में जो हेतु है, वही "स्वभावहेतु" कहा जाता है। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है:-

"स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्म हेतुः।" 2.

जैसे:- "यह वृक्ष है, क्योंकि यह "शिरसा" {शीशम} है।"

यहाँ "शिरसा" होने के ही कारण यह "वृक्ष" है।

{साध्य के} कार्य को देखकर उस साध्य की उपलब्धि का अनुमान करना, "कार्य" है। जैसे:- "यहाँ अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम है।"

यहाँ कार्य "धूम" से साध्यरूप "अग्नि" का अनुमान होता है। इन तीनों प्रकार के हेतुओं में "स्वभाव" और "कार्य", "वस्तु" के साधन हैं और "अनुपलब्धि" प्रतिषेध का निरूपण करती है।

1. न्यायबिन्दुटीका, 2/11

2. न्यायबिन्दुटीका, 2/15.

जहाँ न्याय-दर्शन ने परार्थानुमान के लिए पंचावय-वाक्य प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन^१ का प्रयोग किया है, वहाँ बौद्ध-न्याय के अनुसार अनुमान वाक्य के केवल दो ही अवयव माने जाते हैं:- हेतु और दृष्टान्त।

इसके अलावा प्रतिज्ञा या पक्षनवन के स्वरूप के विषय में नैयायिक तथा बौद्ध-मत भिन्न-भिन्न हैं। "न्यायसूत्र" में "साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा" यह "प्रतिज्ञा" का लक्षण किया गया है, जबकि बौद्धों के अनुसार "पक्ष" वह है, जिसे सिद्ध करना इष्ट है। बौद्धों के मत में "धूम" से "अग्नि" के अनुमान में "अग्नि" पक्ष है, जबकि नैयायिकों के मत में "पर्वत" पक्ष है।

बौद्धों के मत में "जो उस $\{$ साध्यविरिष्ट $\}$ रूप में सिद्ध है, वह दृष्टान्त है।"^१ "दृष्टान्त" का एक अन्य उदाहरण भी "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में आता है :- "साध्य के द्वारा हेतु का अनुगमन $\{$ हेतु के होने पर साध्य का होना $\}$ तथा साध्य के अभाव में हेतु का अभाव $\}$ दिखाना दृष्टान्त है। $\}$ "^२ इसके विपरीत नैयायिक दृष्टान्त तथा उदाहरण को एक ही मानते हुए किसी बात के साधन के^{सिद्ध} जो उदाहरण दिया जाता है, उसे "दृष्टान्त" कहते हैं। जिस बात में पक्ष और विपक्ष दोनों दलों का एक मत हो, वही दृष्टान्त के रूप में उद्धृत हो सकता है।

इस सबके पश्चात् अब हम "अनुमान" के मुख्य अङ्ग "व्याप्ति" पर दृष्टिपात करते हैं। "व्याप्ति" न्याय-दर्शन में "स्वाभाविक सम्बन्ध" को कहा गया है।^३ इसे ही बौद्ध-दर्शन में प्रतिबन्ध या स्वभाव-प्रतिबन्ध कहा गया है। "व्याप्ति" के अनुमान का आधारभूत अङ्ग होने के कारण, इस विषय में बौद्ध तथा न्याय-कौण्डिल्य,मीमांसा दर्शन में अत्यन्त गंभीर विचार हुए तथा इस प्रकार "व्याप्ति" का स्वरूप स्पष्ट होता गया।

१. न्यायवार्तिक, न्यायदर्शनम् १/१/३७, पृ० सं० ५६६, पं० २४.

२. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायदर्शनम्, १/१/३७, पृ० सं० ५६८.

नैयायिक हेतु व साध्य के बीच निरुपाधिक-सम्बन्ध को "व्याप्ति" मानते हैं, जैसे:- धूम तथा अग्नि के बीच व्याप्ति-सम्बन्ध है। क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि दिखाई देती ही है। इनके बीच कोई "उपाधि" भी नहीं है, जबकि "अग्नि" हेतु तथा "धूम" साध्य का संबंध निरुपाधिक नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि "जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धूम है।" धूम के अभाव में भी अग्नि की सरता देखी ही जाती है। - ^{अग्नि} "धूम" और ^{धूम} "अग्नि" के बीच "आह्वेन्धनसंयोग" उपाधि है। यदि लकड़ी गीली होगी, तभी अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध होगा, अन्यथा नहीं, इस प्रकार "जहाँ-जहाँ अग्नि होगी, वहाँ-वहाँ धूम होगा" इस प्रकार की "व्याप्ति" नहीं बन सकती, क्योंकि यह निरुपाधिक नहीं है। इस प्रकार "व्याप्ति-दर्शन" के बाद लिङ्ग-गस्मृति आदि के कुम से होने वाला ज्ञान अनुमान होता है, जो अनुमिति का जनक है। यह सम्बन्ध-ग्रहण व व्याप्ति-ग्रहण व बार-बार सहचार-दर्शन से होता है। बार-बार हमने धूम और अग्नि को साथ-साथ देखा, कभी भी अग्नि के अभाव में धूम को नहीं देखा, तो हमें धूम और अग्नि के बीच "व्याप्ति" का निश्चय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि नैयायिक व्याप्ति-सम्बन्ध को "भूयोक्षौजन्य" मानते हैं।

इसके विपरीत बौद्ध-दर्शन, कार्य-कारणभाव तथा स्वभाव पर आधारित अविनाभाव को, अनुमिति का जनक या अनुमानाङ्ग मानता है। धर्मकीर्ति ने कहा है :-

"स च प्रतिबन्धः साध्यैर्ध्ये लिङ्ग-गस्म।"
"वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेरव ।" १०

अर्थात् धर्मकीर्ति का मूल है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो निमित्तों से स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है। बौद्ध-न्याय के अनुसार स्वलक्षण या क्षण की ही वास्तविक सत्ता होती है। इस अर्थक्रियाकारी क्षण के अनेक स्वरूप हो सकते हैं, जैसे:- यह वृक्ष भी है, अशोक भी। किन्तु इन सभी "धर्मों" में तादात्म्य होता है, वस्तुतः वे भिन्न नहीं होते। उनमें से एक धर्म प्रतिबद्ध-अविनाभावी होता है। और दूसरा प्रतिबन्ध का विषय, जैसे अशोकत्व धर्म, वृक्षत्व का अविनाभावी है। वह "अशोक" तभी हो सकता है, जब वह "वृक्ष" हो। इस प्रकार तादात्म्य से प्रतिबन्ध होता है।

किन्तु यदि किसी वस्तु को कार्य-कारण-भाव की दृष्टि से देखा जाता है, तो प्रतीत होता है कि कार्य, अपने सत्ता के लिए कारण पर आश्रित है। वह कार्य, अपने कारण में प्रतिबद्ध-अविनाभावी है, जैसे "अङ्कुर" रूप कार्य, सदा "बीज" से ही उत्पन्न होता है, बिना "बीज" के कभी भी नहीं होता। इस प्रकार "तदुत्पत्ति" के निमित्त से भी प्रतिबन्ध होता है, क्योंकि अङ्कुर, बीज से ही प्रस्फुटित होता है, अतः अङ्कुर को देखकर बीज का अनुमान किया जा सकता है।

"अभाव" की सिद्धि "अनुपलब्धि" से होती है। अभाव की व्याप्ति का निश्चय "अनुपलब्धि" से होता है। जैसे :- यहाँ धूम का अभाव है क्योंकि यहाँ अग्नि का अभाव है।

नैयायिक-वैशेषिक तथा मीमांसकों ने बौद्धों की इस धारणा का, कि व्याप्ति, तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक होती है, अत्यन्त बलपूर्वक खण्डन किया है। दूसरी ओर बौद्धों ने भी अपने मत की दृष्टि में अनेक तर्क दिए तथा व्याप्ति के "भूमौदर्शनान्या" होने का खण्डन किया।

बौद्धों के मत में यदि बार-बार सहचार-दर्शन से हम व्याप्ति-संबंध का निश्चय करें, तो "वह श्याम है, मैत्री का पुत्र होने से, दिखलाई देने वाले मैत्री के अन्य पुत्रों के समान" ऐसा भी अनुमान होने लगेगा। यहाँ भी दर्शन और अदर्शन हैं ही। इसलिए तादात्म्य और तदुत्पत्तिनिमित्तक ही प्रतिबन्ध होता है, परन्तु नैयायिकों ने बौद्धों के "वह श्याम है....." इस उदाहरण में "शाकपाकजन्यत्व" को उपाधि माना है तथा इस प्रकार "उपाधि" होने से, ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती, क्योंकि "व्याप्ति" तो "निरुपाधिक-सम्बन्ध" है।

इस प्रकार नैयायिक-वैशेषिक, मीमांसक तथा बौद्धों की व्याप्तिविषयक विचारधारा में यही मुख्य अन्तर है कि "नैयायिक-व्याप्ति" को "बार-बार सहचार-दर्शन से होने वाली" मानते हैं, जबकि बौद्ध, प्रतिबन्ध को तादात्म्य, कार्यकारणभाव ^{अथवा} ~~सम्बन्ध~~ अनुपलब्धि से होने वाला मानते हैं।

"चतुर्थे अध्याय"
=====

"रत्नकीर्ति से पूर्व व्याप्तिविषयक विवाद" :-
=====

"व्याप्ति" अविनाभाव नियम, प्रतिबन्ध या स्वभाव प्रतिबन्ध के विषय में हम पिछले अध्यायों में थोड़ा बहुत विचार विमर्श कर चुके हैं। इससे "व्याप्ति" का अर्थ तो स्पष्ट हो ही गया है तथा कुछ अंशों तक "व्याप्ति" के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक, मीमांसिक तथा बौद्धों के बीच विवाद की भी एक झलक मिलती ही है।

रत्नकीर्ति, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी के महान् बौद्ध लेखक हैं तथा जिनकी कृति "रत्नकीर्ति निबन्धवलिः" नाम से प्रसिद्ध है, इन्होंने "रत्नकीर्ति-निबन्धवलिः" के "व्याप्तिनिर्णयः" नामक निबन्ध में बौद्धों के व्याप्तिविषयक विचार तथा वास्तिक और नास्तिक दर्शन के बीच व्याप्तिविषयक विवाद का भी दर्शन कराया है।

इस अध्याय में हम रत्नकीर्ति से पहले के बौद्ध-दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक, मीमांसा दर्शन के बीच व्याप्तिविषयक विवाद पर विचार करेंगे। रत्नकीर्ति से पूर्व के व्याप्तिविषयक विवाद की झलक हमें वाचस्पति मिश्र की "न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका", उद्योतकर के "न्यायवार्तिक" आदि में देखने को मिलती है। बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थ दिङ्नाग का "पुमाणसमुच्चय", धर्मकीर्ति का "पुमाणवार्तिक" तथा "न्यायविन्दु" आदि में भी पुमाणों का प्रवेदन करते हुए न्याय-वैशेषिक आदि के पुमाणविषयक विविध विचारों की बालीवना की गई है।

बौद्धों और नैयायिकों के मध्य व्याप्ति के विषय में विवाद का मूल बाधक नैयायिकों का व्याप्ति को "भूतदरिद्रजन्मा" मानना तथा बौद्धों का व्याप्ति को तादात्म्य ^{अथवा} तदुत्पत्तिनिमित्तक मानना ही है।

इसी मूल विषय को लेकर वास्तिक तथा नास्तिक सम्प्रदायों के बीच काफी समय तक विवाद होता रहा। जहाँ एक ओर वास्तिक & नैयायिक-वैशेषिक, मीमांसिक & सम्प्रदाय अपने मत पर उठते रहे तथा परमत का खण्डन करता रहा, वहाँ दूसरी ओर नास्तिक (बौद्ध) सम्प्रदाय भी अपने मत की दृष्टि में अनेक तर्क देते हुए परमत का खण्डन तथा पराजय का निराकरण करता रहा।

वाचस्पति-मिश्र की "न्यायवाचस्पतिपर्यटीका" में बताया है कि दो प्रकार के अर्थों (प्रत्यय और पराजय) में से पराजय अर्थ बुद्धि में साक्षात् अपने रूप को वर्णित करने में असमर्थ है, इसलिए उसका निश्चय नहीं होता और अतिप्रसङ्ग हो जाने के भय से अन्य को देखकर अन्य की कल्पना उचित नहीं, हाँ, अविनाभाव सम्बन्ध से अन्य (अर्थ) भी दूसरे "अर्थ" का गमक (बोधक) हो सकता है, क्योंकि उसका जैसा स्वभाव-सम्बन्ध जाना जाता है, वैसा ही अन्य वस्तु की सत्ता को वह सूचित करता है, किन्तु यह प्रतिबन्ध दूरभात्र से नहीं निश्चित किया जाता। यदि ऐसा होगा, तो "वह श्याम है, मैत्री का पुत्र होने से, दिखलाई देने वाले मैत्री के पुत्रों के समुदाय के समान" इस प्रकार का भी अनुमान हो जाएगा। यहाँ भी दर्शन और अदर्शन हैं ही। इसलिए तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक ही प्रतिबन्ध होता है।¹

यहाँ पर यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने कोई नाम निर्देश नहीं किया तथापि धर्मकीर्ति के मत का विशेषतः कथन किया है ; क्योंकि "प्रमाणवातिक" से यह ग्रन्थ अधिकारित मिलता है।

इस पर —————> नैयायिक प्रश्न उठाते हैं कि कार्य और कारण का नियत सम्बन्ध है, अबही कैसे मान लिया जाए ? —————>

—> कार्य, कारण का अविनाभावी है, इसमें क्या प्रमाण है ? कारण के बिना भी कार्य क्यों नहीं हो जाता ?¹

इसके उत्तर में बौद्ध-न्याय कहता है:-

तथा च सत्यनपेक्षया कादाचित्कत्वविहतिरिति चेत् - यथाह,

" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षात् ।

अपेक्षातौ हि भवानी कादाचित्कत्वसम्भः ॥²

॥न्या० वा० ता०टी०, न्यायदर्शनम्, पृ०
सं० 306, पं० 15-18॥

ऐसा होने पर अर्थात् कारण के बिना कार्य हो जाने पर, कार्य के किसी अन्य की अपेक्षा के बिना हो जाने से कार्य का कदाचित् होना न बन सकेगा, जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है:-

कार्य के अहेतुक होने पर उसकी नित्य ही उत्पत्ति या अनुत्पत्ति होनी चाहिए ; क्योंकि अहेतुक भाव अपनी उत्पत्ति में अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखेगा। भावों का कभी होना, कभी न होना ॥कादाचित्कत्व॥ तो कारण की अपेक्षा से होता है।

यदि कार्य बिना कारण के ही होने लगेगा, तो वह सदा ही होता रहेगा या कभी भी न होगा ; यह नहीं कि कभी होगा, कभी नहीं, क्योंकि तब उसे अन्य कारण की अपेक्षा तो होगी नहीं। इस तर्क द्वारा इस शङ्का का निराकरण हो जाता है कि कारण के बिना भी कार्य क्यों नहीं हो जाता । इस प्रकार कार्य-कारण-भाव अविनाभाव का नियामक है, यह बात भी समझ में आ जाती है।

1. "तथापि कस्मात् कारणान्तरेण न कार्यं भवति।" ॥न्या० वा० ता०टी०॥

न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 306, पं० 15.

2. प्रमाणवार्तिक :- 3/35, पृ० सं० 270.

अब उद्योतकर आदि नैयायिकों के द्वारा यह तर्क उपस्थित किया जाता है:- " कार्य से जो कारण अनुमान होगा, वह उस {कार्य} से पूर्वकालीन कारण का ही अनुमान हो सकेगा, वर्तमानकालीन का नहीं, क्योंकि कार्य के समकाल में हेतु का होना कार्योत्पत्ति के लिए आवश्यक नहीं, अपितु कार्य से पूर्वकाल में होना। जैसे कि नदी की विशेष प्रकार की बाढ़ {जलवृद्धि} अपनी सम-कालीन वर्षा की अनुमिति नहीं कराती, अपितु उससे पूर्वकालीन वर्षा की अनुमिति कराती है। तत्कालीन वर्षा तो उसका कारण नहीं है। इसलिए साध्य और बाध्य प्रमाण न होने से तत्कालीन वर्षा में सन्देह करते हुए {वर्षा} के अभिज्ञाणी प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार धूम से भी पूर्वकालीन अग्नि का अनुमान होगा, वर्तमान का नहीं। ऐसा होने पर {वर्तमानकालीन अग्नि का अनुमान न होने पर यह सन्देह होगा कि अब अग्नि है या नहीं, पहले थी अग्नि के अभिज्ञाणी वहाँ शङ्कित होकर प्रवृत्त न हो सकेंगे। " 1.

यही नहीं, कार्य से कारण का अनुमान करने में एक दोष और भी होगा, ऐसा नैयायिकों का कहना है:-

" इसके अतिरिक्त अनुमाता लोग रस के समकाल में रस के द्वारा उससे भिन्न रूप का अनुमान करते हैं अर्थात् रस को देखकर रूप का अनुमान किया जाता है, किन्तु रस और रूप का न तो कार्यकारणभाव है और न ही तादात्म्य भाव " 2. अतः तादात्म्य और तदुत्पत्ति से प्रतिबन्ध होता है, यह मानने पर कैसे काम चल सकता है ?

1. न्या० वा० ता० टी०, न्यायदर्शनम्, पृ. सं० 306-307, पं० 22-26.

2. "अपि च रसादन्यरूपं रससमकालमनुमितेऽनुमाताः । न चानमोरस्ति कार्यकारणभावः तादात्म्यं वा ।" { न्या० वा० ता० टी० न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 307, पं० 1-2.

बौद्ध-दर्शन की ओर से इस बात का उत्तर वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार दिया है :-

" यदि यह कहा जाए कि पूर्वकालीन रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के क्षणों से ॥ पुंज से पुंज की उत्पत्ति होती है, इस नियम के अनुसार ॥ जो रस क्षण उत्पन्न होता है, वह ॥ रसक्षणा ॥ अपने कारणभूत पहले रूपक्षणा का अनुमान कराता हुआ जैसा उस ॥ पृथक् रूपक्षणा ॥ से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार के रूप क्षणा का अनुमान करा देता है और वह ॥ रूपक्षणा ॥ अनुभाषक, रसक्षणा के समकालीन रूप के क्षण का उत्पादक ही है, अतः वैसे ही ॥ रूपक्षणा ॥ का बोधक होता है। इस प्रकार कार्य ॥ रसक्षणा ॥ के समकालीन रूप का अनुमान सिद्ध हो जाता है। इससे धूम द्वारा तत्कालीन अग्नि के अनुमान की व्याख्या हो गई, जैसा कि ॥ धर्मेकीर्ति १ ॥ ने ॥ कहा है:-

एक कारण सामग्री से उत्पन्न होने वाले रूप, गन्ध आदि को जो ॥ उसी सामग्री से उत्पन्न ॥ मधुर रसादि ॥ लिङ्ग ॥ द्वारा अनुमिति ॥ गतिः ॥ होती है, वह रस के जो हेतु ॥ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श क्षणा ॥ हैं उनके धर्म ॥ रूपजनकत्व ॥ के अनुमान से होती है। जैसे धूम से अग्नि आदि सामग्री का अनुमान हो जाने पर भस्म, अङ्गारादि हन्धन के विकारों की अनुमिति होती है।" २

1. "एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतौ गतिः ।

हेतुधर्मानुमानेन धुमेन्धनविकारवत् ॥" पुष्पाण्वार्तिक ॥ मनोरथनन्दी टीका ॥

3/9 पृ० सं० 262.

2. "अपि च रसादन्यरूपं धुमेन्धनविकारवत् ॥"

न्या० वा० ता० टी०, न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 307, पं० 1-8.

वाचस्पति मिश्र कृत उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि बौद्धों के मत में रस के द्वारा जो रूप का अनुमान होता है, यद्यपि उसमें साक्षात् कार्य-कारण भाव के बाधर पर होने वाला प्रतिबन्धनियम कार्य नहीं करता, तथापि परम्परया यही नियम है। पहले रस के द्वारा उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान किया जाता है ; क्योंकि बौद्ध-मत के अनुसार पूर्वक्षीपुञ्ज से अन्यक्षीपुञ्ज की उत्पत्ति होती है, अतः उस उत्पादक सामग्री में स्थित रूपक्षी, रस-समकालीन रूपक्षी का जनक है। वह अपने समान रूपक्षी का ही जनक है, वह उसका धर्म या स्वभाव है, अतः उसके समान रूपजनकत्व का अनुमान होने से रस समकालीन रूप का भी अनुमान हो जाता है।¹

यह बात उदाहरण से इस प्रकार जानी जा सकती है कि धूम से उसकी कारण-सामग्री अग्नि, वायु-इन्धन आदि का अनुमान हो जाता है। वह अग्नि और भस्मादि का जनक है, अतएव अनुमित अग्नि आदि सामग्री से बड़ंगारों और राख का भी अनुमान होता है। इस प्रकार कार्य-कारण भाव से प्रतिबन्धनियम होता है, यह स्पष्ट ही है।

अब नैयायिक पुनः पूछन उठाते हैं कि तादात्म्य के द्वारा प्रतिबन्धनियम नहीं हो सकता। तादात्म्य में ज्ञाप्यज्ञापकभाव कैसे हो सकता है ? वहीं कर्म और कर्ता भी हो, यह तो उचित नहीं। ज्ञाप्यज्ञापकता कर्म, कर्तृभाव तो भेदाश्रित है अर्थात् भिन्न वस्तुओं में होती है। इसका समाधान करते हुए बौद्ध-दर्शन की ओर से वाचस्पति मिश्र कहते हैं :-

1. दृष्टव्य :- "वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन" श्री निवासशास्त्री
अनुमान-प्रकरण, पृ० सं० 154.

"यद्यपि वृक्षता और शिखरात्वे दोनों यथार्थ में भिन्न नहीं, तथापि एक में वन्यभेद का वारोपण प्रतिक्षेप कर लिया जाता है, दूसरे में नहीं" प्रतिक्षेप वतएव दोनों में कल्पित भेद है और ज्ञाप्यज्ञापक भाव बन जाता है।¹

तात्पर्य यह है कि ज्ञाप्यज्ञापक भाव के लिए यथार्थ भेद की आवश्यकता नहीं, कल्पनाकृत भेद से ही यह हो सकता है। वास्तव में बौद्ध-न्याय के अनुसार अनुमान-अनुमेय व्यवहार कल्पित मानस धर्मधर्मिभाव से ही होता है। इसके लिए वस्तुओं की यथार्थ जगत् में विद्यमानता आवश्यक नहीं, वतः तादात्म्य-भाव से प्रतिबन्ध-नियम होता है, यह युक्तिसङ्गत है।

इसी "तादात्म्य" सम्बद्ध प्रश्न को "धर्मोत्तरप्रदीप"² में इस प्रकार उठाया गया है :-

प्रतिज्ञा, जो कि "प्रज्ञावयव"-वाक्य का प्रथम अङ्ग है, उसका अर्थ है-साध्य निर्देश करना। जब साध्य तथा साधन का तादात्म्य अभेद है, तो साध्य का निर्देश करने से साधन का भी निर्देश हो जाएगा, किन्तु साध्य तो वसिष्ठ है, वतः हेतु भी वसिष्ठ हो जाएगा, जो कि हेतु का दोष है। वतः तादात्म्य से स्वभाव-प्रतिबन्ध कैसे हो सकता है ?

इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि परमार्थ सत् वस्तु स्वलक्षण की दृष्टि से यहाँ साध्य और साधन में तादात्म्य बतलाया गया है। यह स्वलक्षण केवल निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है, किन्तु साध्य-साधन-भाव का निश्चय तो सविकल्पक ज्ञान द्वारा होता है।

1. "यद्यपि च वृक्षवशिखात्वे परमार्थौ न भिन्ने, तथापि भेदान्तरप्रतिक्षेपाप्रति-क्षेपाभ्यां कल्पितभेदयोर्गम्यगमकभाव इति।" न्यायवाक्यानुसंगेन न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 308, पृ० 6-8.

2. धर्मोत्तरप्रदीप :- पृ० सं० 113 "प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः..... वैधर्म्यमाह ।"

—→ उस निश्चयात्मक ज्ञान से जिस वस्तु का भास होता है, उसमें साध्य और साधन का भेद रहता है। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से दोनों का तादात्म्य है, किन्तु विकल्पजन्य आरोप के कारण ज्ञा व्यावहारिक दृष्टि से दोनों का भेद है ही।

अब एक और भी शङ्का हो सकती है कि जहाँ कार्यहेतु से कारण का बोध होता है, वहाँ तो कार्य को कारण के आश्रित प्रतिबद्ध कहा जा सकता है, किन्तु स्वभावहेतु का तो अपने साध्य के साथ तादात्म्य होता है, दोनों में भेद होता है, फिर वहाँ हेतु को साध्य में प्रतिबद्ध कैसे कहा जा सकता है ?

इसका समाधान धर्मात्तर¹ ने यह किया है कि यद्यपि स्वभावहेतु के स्थल पर हेतु और साध्य दोनों का समान रूप से तादात्म्य है तथापि एक वस्तु के दो स्वभावों में से जो नियत रूप से दूसरे पर आश्रित होता है, कहीं भी उसके बिना नहीं रह सकता, वही प्रतिबद्ध होता है और दूसरा प्रतिबन्ध का विषय। इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध होने पर भी जो पराश्रित प्रतिबद्ध है, वही हेतु होता है। धर्मात्तर ने इस कथन पर विशेष बल दिया है कि नियत विषय में ही साध्य-साधन-भाव होता है, अन्य प्रकार से नहीं। इससे प्रकट होता है कि धर्मात्तर के मत में नैयायिक आदि ने जो अव्यभिचारित साहचर्य के साधारण पर अनियत असंख्य प्रकार का साध्य-साधन-भाव माना है, यह युक्तिसङ्गत नहीं है।

पुनः नैयायिकों की ओर से शङ्का की जाती है कि बाँट केवल दो ही सम्बन्धों से अविनाभाव-सम्बन्ध मानते हैं:- तादात्म्य से या सदुत्पत्ति से। परन्तु अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ व्याप्ति ही होती है, —————→

1. दृष्टव्य :- " सच नान्यथेति । "

न्यायबिन्दुटीका, 2/21, पृ० सं० 133.

—> किन्तु इन दोनों में से कोई भी निमित्त नहीं होता ; जैसे चन्द्रोदय को देखकर समुद्र की वृद्धि तथा कुमुद-विकास का अनुमान किया जाता है और शरद ऋतु में निर्मल जल को देखकर अगस्त नक्षत्र के उदय का अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार के अनेक उदाहरण लोक और शास्त्र में विद्यमान हैं, अतः नियत साहचर्य मात्र से व्याप्ति मानना उचित है, केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नहीं।

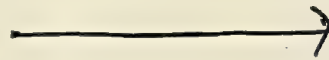
इसके समाधान में बौद्ध-न्याय का विचार है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही अविनाभाव सम्बन्ध होता है, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा कोई पदार्थ किसी का भी साधक ॥ लिङ्ग ॥ होने लगेगा। नैयायिक द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों में जहाँ कहीं साक्षात् या परम्परया तादात्म्य और तदुत्पत्ति-इनमें से कोई निमित्त विद्यमान है, वहाँ इसी आधार पर अविनाभाव सम्बन्ध माना जा सकता है ; जैसे :- "जल की निर्मलता" यह तो अगस्तोदय का कार्य ही है। यद्यपि समुद्रवृद्धि या कुमुदविकास चन्द्रोदय का साक्षात् कार्य नहीं है, तथापि उन दोनों ॥ चन्द्रोदय और समुद्र वृद्धि आदि ॥ की उत्पत्ति एक सामग्री के अधीन है। एक ही महाभूतविशेष से उन दोनों की उत्पत्ति होती है। इसलिए यहाँ भी परम्परया "तदुत्पत्ति" निमित्त है वही। इसी प्रकार किसी आम्रफल आदि के रूप को देखकर जो उसके मधुर आदि रस का अनुमान किया जाता है, वहाँ भी एक सामग्री के अधीन होने के कारण "तदुत्पत्ति" नामक निमित्त होता है।¹

इसके विपरीत जहाँ इन दोनों निमित्तों में से कोई भी नहीं, वहाँ —>
हमारे,



→ वहाँ तद्विनाभाव-सम्बन्ध ही नहीं होता, जैसे उमड़े मेथों को देखकर भावी वर्षा का अनुमान करना युक्तिसङ्गत नहीं, क्योंकि यह भी सम्भव है कि किसी कारण से वर्षा न हो। वस्तुतः कारण से कार्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। इस विषय का विचार विवेचन पं० दुर्वेक मिश्र ने किया है।¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नकीर्ति से पूर्व बौद्ध तथा नैयायिक-वैशेषिक एवं मीमांसकों के बीच व्याप्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त विवाद रहा तथा "व्याप्ति" की विभिन्न नई-नई व्याख्याएँ होती रहीं। रत्नकीर्ति के मूल आशयमित्र ने भी "व्याप्ति" पर "व्याप्तिचर्चा" नामक निबन्ध में बौद्ध-दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-दर्शन के बीच व्याप्ति-सम्बन्धी विवाद का अच्छा चित्रण किया है।



1. "ननु वास्तव्यमि वृत्तज्येतेति।" धर्मतरङ्गदीप, पृ० सं० 115-116.

"प चम अध्याय"
=====

"रत्नकीर्ति का व्याप्तिनिर्णयः" :-
=====

रत्नकीर्ति नामक बौद्ध विद्वान, जो कि 'ग्यारहवीं' शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए, ज्ञानश्रीमित्र के शिष्य थे। ज्ञानश्रीमित्र ने भी "व्याप्ति" पर "व्याप्ति-चर्चा" नामक निबन्ध लिखा है। रत्नकीर्ति ने कई निबन्ध लिखे, यथा :- सर्वज्ञसिद्धिः, ईश्वरसाधनदुष्कम्, अपौरुषेयसिद्धिः, क्षण-सङ्गसिद्धिः, :- अन्वयात्मिका, क्षण-सङ्गसिद्धिः, :- व्यतिरेकात्मिका, प्रमाणान्तभावप्रकरणम्, व्याप्तिनिर्णयः, स्थिरसिद्धिदुष्कम्। पु० अनन्तलाल ठाकुर ने इन सभी निबन्धों को "तिब्बतन संस्कृत वर्कस सीरीज" में रत्नकीर्ति-निबन्धावलिः" नाम से सम्पादित किया है। ये सभी निबन्ध न्याय की विषय-वस्तु से सम्बद्ध हैं, चाहे इनकी विषयवस्तु सीधी न्याय के विषय से सम्बद्ध नही, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से ये निश्चित न्याय के विषयों से सम्बद्ध हैं।

इन सभी निबन्धों में रत्नकीर्ति का "व्याप्तिनिर्णयः" नामक निबन्ध प्रत्यक्ष रूप से न्याय के विषय से सम्बद्ध है। इस निबन्ध में लेखक ने बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा-दर्शन के बीच हुए व्याप्तिविषयक-विवाद का चित्रण किया है। मुख्य रूप से दिङ्नाग से लेकर ही जो बौद्धों तथा नैयायिकों में वैचारिक संघर्ष चला आ रहा था, उसी को इन्होंने भी आगे बढ़ाया। इस निबन्ध में रत्नकीर्ति ने पूर्वपक्ष के रूप में न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा दर्शन को रखा है, जिन्हें हम अपने निबन्ध में "नास्तिक-दर्शन" के रूप में व्यवहृत करेंगे तथा उत्तरपक्ष के रूप में "बौद्ध-दर्शन" स्वयं है, जिसे हम नास्तिक-दर्शन के रूप में वर्णित करेंगे।

इस निबन्ध में नास्तिक तथा वास्तिक दर्शनों के बीच न्याय के मुख्य विषय "प्रमाण-मीमांसा" के अनुमान-प्रमाण, के मुख्य अङ्ग "व्याप्ति" के विषय में विवाद विवेचन करके पूर्वपक्ष के विचारों को खण्डित करते हुए व्याप्ति-सम्मत बौद्ध-मत प्रतिपादित किया गया है।

इस निबन्ध में वास्तिक तथा नास्तिक दर्शन के बीच विवाद के मुख्य विषय निम्नलिखित दर्शाये गये हैं :-

1. अनुमान का विषय :-

जैसा कि पहले भी बताया गया है, बौद्ध प्रत्येक प्रमाण का विषय दो प्रकार का मानते हैं:- ग्राह्य तथा अध्यवसेय। अनुमान का ग्राह्य विषय "सामान्यलक्षणा" है तथा अध्यवसेय विषय "स्वलक्षणा" है। ^{स्वलक्षण / इसे विपरीत उत्पत्ति-प्रमाण का ग्राह्य-विषय} तथा अध्यवसेय विषय सामान्यलक्षणा। इन दोनों प्रमाणों के विषय परस्पर एक दूसरे के विषय-क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकते, यही प्रमाण-व्यवस्था है, जिसे बौद्ध-दर्शन में माना गया है। दूसरी ओर वास्तिक-दर्शन में "प्रमाण-संप्लव" को मानते हैं, परन्तु कुछ हद तक ये "प्रमाण-व्यवस्था" के भी पक्षपाती हैं।

2. व्याप्ति-सम्बन्ध :-

रत्नकीर्तिकृत "व्याप्तिनिर्णयः" में विवाद का दूसरा मुख्य विषय है :- "व्याप्ति-सम्बन्ध" किन दो पदार्थों के बीच हो सकता है ? बौद्धों का मत है कि जिन दो पदार्थों के बीच में तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति-सम्बन्ध हो, वही "व्याप्ति-सम्बन्ध" हो सकता है, अन्यत्र नहीं। नैयायिक कहते हैं कि जहाँ स्वाभाविक अर्थात् क्रियाधिक सम्बन्ध हो, वही व्याप्ति-सम्बन्ध होता है। उसके लिए तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति की सीमा बाधने की आवश्यकता नहीं है।

3. व्याप्ति-ग्रहण के उपाय :-

पुस्तुत निबन्ध में दर्शित अन्य विवाद के मुख्य विषय है :- "व्याप्ति-ग्रहण" कैसे होता है ? इस विषय में बौद्ध दार्शनिक तीन तत्त्वों को मानते हैं :- 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुपलब्धि, 3. प्रत्यक्षपृष्ठ-भावी विकल्प ।

भाव पदार्थों का व्याप्ति-ग्रहण प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प के आधार पर होता है तथा अभाव पदार्थों का व्याप्ति-ग्रहण अनुपलब्धि के आधार पर होता है। इसके विपरीत नैयायिक-मीमांसक आदि "भ्रूयदर्शन" को व्याप्ति-ग्रहण का कारण मानते हैं। इसी के द्वारा बन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक-व्याप्ति का निश्चय होता है। "भ्रूयदर्शन" में न केवल हेतु व साध्य का साहचर्य देखते हैं, अपितु "उपाधि" को भी जोड़ा जाता है। बौद्ध "भ्रूयदर्शन" के स्थान पर "सकृद्दर्शन" को ही व्याप्ति का कारण मानते हैं।

निबन्ध में वर्णित विषय-वस्तु का स्थूल रूप से दिग्दर्शन कराने के पश्चात् अब हम मूल निबन्ध की विषय वस्तु पर आते हैं।

1. बौद्ध-मत :-

बौद्धों का मत है कि "अग्नि" आदि के साथ धूमादि अन्य वस्तु की व्याप्ति तदुत्पत्ति-स्वरूप वाली है। "तदुत्पत्ति" का अर्थ है-कार्यकारणभाव। "कार्य" से "कारण" का अनुमान लगाना ही "तदुत्पत्ति" है। "तस्मादुत्पत्तिः इति तदुत्पत्तिः ।" तात्पर्य यह है कि धूम तथा अग्नि में कार्य-कारण सम्बन्ध है। धूम की उत्पत्ति अग्नि से होती है, अतः धूम अग्नि का कार्य है तथा धूम व अग्नि की व्याप्ति तदुत्पत्ति के आधार पर ग्रहण की जाती है। यह भी कहा जा सकता है कि यह व्याप्ति कार्य तथा कारण के साहचर्य के प्रत्यक्ष तथा व्यभिचार के अनुपलम्भ {अनुपलब्धि} के आधार पर ग्रहण की गई है।

हमने धूम को सदैव अग्नि के साथ देखा, कभी अग्नि से वियुक्त न देखा, यही अन्वय ॥तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्॥ तथा व्यतिरेक ॥तदभावे तदभावः॥ है, जिसे साहचर्य का प्रत्यक्ष तथा व्यभिचार का अनुपलब्ध भी कहा जा सकता है।

2. भूटादि द्वारा बौद्ध-मत का छान तथा स्वमत-स्थापना :-

बौद्धों के इस मत का कुमारिल भूटादि छान करते हैं। भूटादि अग्नि वाले प्रदेश में धूम का "भूटादर्शन" तथा अग्नि से रहित स्थान में धूम का अदर्शन, इस प्रकार अन्वय व व्यतिरेक की कल्पना करते हैं। भूट-मत का तात्पर्य यह है कि "जहाँ-जहाँ अग्नि होगी, वहाँ-वहाँ धूम होगा।" इस तथ्य को जब हम बार-बार देखकर जानेंगे, तो हम धूम और अग्नि के "अन्वय" की कल्पना कर लेंगे। इसके विपरीत जहाँ अग्नि नहीं होगी, वहाँ धूम भी न होगा।" इस तथ्य के बार-बार दर्शन से हमें "व्यतिरेक" का निश्चय हो जायेगा। इस प्रकार भूट-मत में "भूटादर्शन" के आधार पर व्याप्ति का निश्चय होगा, न कि तदुत्पत्ति के आधार पर।¹

3. बौद्धों द्वारा भूट-मत का छान :-

भूट-मत का छान करते हुए बौद्ध कहते हैं कि यदि आप बार-बार दर्शन तथा अदर्शन के आधार पर व्याप्ति-ग्रहण मानते हैं, तो इस प्रकार व्याप्ति-ग्रहण मानने से घट तथा कुलटा आदि में व्यभिचार होगा, अर्थात् आपका व्याप्ति का लक्ष्य घट व कुलटा में भी चला जायेगा, क्योंकि वहाँ भी दर्शन और अदर्शन है ही। हमने बार-बार किसी घट को कुलटा के साथ देखा, कुलटा के अभाव में घट को कभी न देखा, तो बार-बार दर्शन और अदर्शन के आधार पर यहाँ भी हमें अन्वय व व्यतिरेक का निश्चय होकर व्याप्ति-ग्रहण होने लगेगा तथा वहाँ भी व्याप्ति माननी पड़ेगी।

→ अर्थात्

1. "अत्र च भूटप्रभृतयो कल्पयाम्बभूवुः ।" "रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः"

अब बौद्ध प्रश्न करते हैं कि यदि इस प्रकार घट व कुलटा में हमें व्याप्ति-निश्चय होने लगा, तो आपके {भाट्ट-मत} मतानुसार वहाँ भी इस व्याप्ति से घट से कुलटा का अनुमान होगा अथवा धूमादि में भी घट व कुलटा की भाँति व्यभिचार की शङ्का के कारण व्याप्ति नहीं बनेगी, न ही अनुमान होगा १ ।

अपने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बौद्ध स्वयं ही कहते हैं कि यहाँ पहला पक्ष अर्थात् घट वा कुलटा की व्याप्ति के आधार पर अनुमान का होना तो व्यभिचार के कारण निरस्त हो गया क्योंकि घट तथा कुलटा में सदैव साहचर्य नहीं पाया जाता। घट की पृथक् सत्ता है तथा कुलटा की पृथक्। यह आवश्यक नहीं कि जहाँ "घट" होगा, वहाँ "कुलटा" भी होगी। कुलटा के अभाव में भी घट रह सकता है। वह कुलटा से अन्य किसी स्त्री के पास भी हो सकता है। अतः इस व्यभिचार के कारण हम कुलटा व घट में व्याप्ति मानकर अनुमान नहीं कर सकते।

अब बौद्ध अपने प्रश्न के दूसरे पक्ष को प्रकट करते हैं। दूसरा पक्ष भी व्यभिचार के कारण खण्डित हो गया। "धूमादि में भी घट व कुलटा की भाँति व्यभिचार, की शङ्का के कारण व्याप्ति नहीं बनेगी, न ही अनुमान होगा" यह पक्ष व्यभिचार के कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि धूमादि में ~~भी~~ ^{भी} अग्नि आदि से साहचर्य का अभाव नहीं पाया जाता। दूसरा तर्क यह भी है कि किसी एक का व्यभिचार होने पर, अन्य का व्यभिचार नहीं मान सकते अर्थात् यदि घट व कुलटा में व्यभिचार है, तो हम अग्नि व धूम में भी व्यभिचार की कल्पना कर लें, यह युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता।



१. "किमेतावताऽतत्राऽप्यनुमानमस्तु, तद्वद्वा धूमादावपि मा भूत् ।"

रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः, पृ० सं० १०६, पृ० ६.

→ साथ ही यह तथ्य भी विचारणीय है कि अग्नि व धूम में व्यवहार होने पर सैकड़ों भी युक्तियाँ बर्था/अनुपलब्धि भी अनुमान की उपयोगी नहीं होती, न ही अव्यवहार के सभव होने पर भी "तदुत्पत्ति" से विशिष्ट प्रत्यक्ष को प्राप्त किए बिना केवल दिखाई देने व न दिखाई देने मात्र से ही अव्यवहार की सिद्धि हो सकती है।

4. काशिकाकार का मत :-

इसके पश्चात् रत्नकीर्ति "श्लोकाति" के व्याख्याकार काशिकाकार के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:- "पहले अनेक बार के दर्शन से उत्पन्न संस्कार की सहायता-प्राप्त अन्तिम चित्त से, धूम का अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है।" ¹ काशिकाकार के मत का तात्पर्य है कि हमने अनेक बार धूम और अग्नि के साथ देखकर हमारे चित्त में एक संस्कार उत्पन्न होता गया कि धूम, अग्नि के साथ पाया जाता है। इस प्रकार अनेक पूर्वकालीन संस्कारों से युक्त अन्तिम चित्त से धूम का अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध है, यह निश्चय होता है।

5. त्रिलोचन का मत :-

वाचस्पति मिश्र के गुरु त्रिलोचन² भी "भूयोदर्शन" को ही व्याप्ति-ग्रहण का उपाय मानते हुए कहते हैं कि :-

प्रत्यक्ष व अनुपलब्धि के विशेष विषय वाला होने से, उन दोनों से सामान्यों का बर्थात् धूमत्व व अग्नित्व का कैसे सम्बन्ध-ज्ञान हो पायेगा ? जबकि अग्नि से व्यावृत्त के साथ धूम से व्यावृत्त का सम्बन्ध प्रतीत होता ही है³ बर्थात् धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध है ही। →

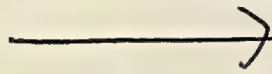
1. "प्राचीनानेकदर्शनानितसंस्कारसहायेन चरमेण चेतसा धूमस्याग्निनियतत्वं ग्रह्यत इति ।" काशिका, भाग, 3, पृ० सं० 16.

2. "त्रिलोचनस्तवाह सम्बन्धः ।" रत्नकीर्तिनिबन्धावलि: , पृ० सं० 106, अनुच्छेद 3.

3. यहाँ त्रिलोचन ने 'अनग्नि' से व्यावृत्त तथा 'अधूम' से व्यावृत्त कहकर बौद्धों के 'अपोहवाद' या 'सामान्यविषयक' धारणा की स्पष्ट किया है। अपोहवाद - अष्टाद्वय-प्रकरण-२४-२९

—> यह सम्बन्ध फिर किस प्रमाण का विषय है ? अपने मत को अधिक स्पष्ट करते हुए त्रिलोचन कहते हैं कि यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष, बौद्धों के मत में "स्वलक्षणविषयक" है, जबकि सामान्य कई वस्तुओं में समानता की प्रतीति या बौद्धों के अनुसार अव्यव्यावृत्ति-रूप है। न ही सामान्य का यह सम्बन्ध अनुमान का विषय हो सकता है, क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक ^१ ही होता है। अतः "व्यावृत्तियों" में अर्थात् अधुम से व्यावृत्त का अग्नि से व्यावृत्त के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता, जबकि धुम का अग्नि के साथ सम्बन्ध है, यह बौद्ध भी मानते हैं।

यदि आप [बौद्ध] यह कहें कि प्रत्यक्ष के बाद में होने वाला विकल्प, भेद दिखाई देने पर जिस अभेद का निश्चय करता है, वहीं "सामान्य" है और ऐसा मानकर हम सामान्य की सम्बन्ध-प्रतिपत्ति कर लेंगे, तो यह भी उचित नहीं क्योंकि आपके [बौद्धों के] मत में तो विकल्पों का विषय "वस्तु" है ही नहीं, अपितु विकल्पों का विषय तो ग्राह्याकार है और ग्राह्याकार वस्तु नहीं है। आपके मत में वस्तु तो परीक्ष ही है, अतः उससे सम्बन्ध-ग्रहण कैसे हो सकता है ?



~~३- यहाँ त्रिलोचन ने "अग्नि" से व्यावृत्त तथा "अधुम" से व्यावृत्त कहकर बौद्धों के "अपरोहवाद" या सामान्यविषयक धारणा को प्रकट किया है।~~

~~"अपरोहवाद" :- इष्टव्य पृ० सं० ३१०~~

१. "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्वच्छेषतः सामान्यतोद्भूतं च ॥"

न्यायदर्शनम्, पृ० सं० २९१०, न्यायसूत्र १/१/५०

तत्परचात् अपने मत की पुष्टि करते हुए त्रिलोचन कहते हैं कि हमारे मत में ती बार-बार दर्शन की सहायता-प्राप्त मन से उस जाति वाले समस्त पदार्थों का सम्बन्ध-ग्रहण हो जाता है अतः धूम व अग्नि का व्यभिचार नहीं होता। धूम का अग्नि के साथ सदैव साहचर्य पाया जाता है।

अब यदि आप यह शङ्का करें कि धूम का अग्नि के साथ व्यभिचार होने पर धूम उपाधिरहित सम्बन्ध का अतिक्रमण कर देगा, तो यह उचित नहीं; क्योंकि प्राप्त उपाधि के अनुपलब्ध होने का कारण तो "अनुपलब्ध" नामक प्रत्यक्ष ही है, जिसका स्वरूप "उपलब्धि" है। अर्थात् धूम का यदि अग्नि के साथ व्यभिचार होता है तथा होने "उपाधि" दिखाई नहीं देती, तो वह अनुपलब्धि (अभाव) नामक "प्रत्यक्ष" ही है। ऐसा नहीं है कि धूम उपाधिरहित सम्बन्ध का अतिक्रमण कर जाए। अतः स्वाभाविक-सम्बन्ध सिद्ध ही है। इस प्रकार त्रिलोचन ने विविध तर्कों को रखते हुए अपने मत की पुष्टि तथा बौद्ध-मत का खण्डन किया।

6. त्रिलोचन के मत का खण्डन :-

त्रिलोचन के इस मत का रत्नकीर्ति ने अत्यन्त बलपूर्वक खण्डन किया है।¹ रत्नकीर्ति कहते हैं कि आपने (त्रिलोचन ने) जो यह कहा कि हमारे मत में सामान्य का सम्बन्ध ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि हम प्रत्यक्ष को "स्वलक्षणाधिष्णक" मानते हैं तथा अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है, अतः यह सम्बन्ध किसी भी प्रमाण का विषय नहीं बन सकता, यह उचित नहीं है। रत्नकीर्ति, त्रिलोचन के मत के विषय में पुरन करते हुए कहते हैं कि यदि "प्रत्यक्ष स्वलक्षणाधिष्णक" है, यह बात आपने (त्रिलोचन ने) "अयोग्यवच्छेद" (अव्याप्ति का खण्डन अर्थात् प्राप्त) से कही है, तो सिद्ध का ही सार्थक हो गया।

1. "त्रिलोचनचौथेऽपि ब्रूमः । याचितमण्डनत्वादिभिः।"

→ और यदि यह बात वाप "अयोग्यवच्छेद" [अन्य की प्राप्ति का अङ्ग] से कहते हैं, तो अतिरिक्त है क्योंकि ऐसा कहने से प्रत्यक्ष तथा अनुमान के दो प्रकार के विषय-ग्राह्य और अध्यवसीय का उल्लेख होगा। तत्पर्य यह है कि अनुमान का भी अध्यवसीय तो "स्वलक्षण" ही है, फिर वाप "अयोग्यवच्छेद" से कैसे इस बात को कह सकते हैं? इस प्रकार रत्नकीर्ति ने त्रिलोचन के "प्रत्यक्ष स्वलक्षणविषयक" है इस युक्ति को निरस्त कर दिया। अब रत्नकीर्ति ग्राह्य तथा अध्यवसीय का रूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जहाँ जहाँ ज्ञान से प्रतिभासित होता है, वह "ग्राह्य" है। जहाँ प्रमाणात् प्रवृत्त होता है, वह "अध्यवसीय" है।¹ प्रत्यक्ष का "स्वलक्षण" ग्राह्य है तथा "सामान्य" अध्यवसीय है, जो कि "अतदुपपरावृत्त-स्वलक्षणमात्र" ² जो वह रूप नहीं है, उससे भिन्न स्वलक्षण-मात्र स्वरूप वाला है। अनुमान-प्रमाण का इससे विपरीत अर्थात् अनुमान में ग्राह्य "सामान्य" और अध्यवसीय "स्वलक्षण" है। इसीलिए सांख्यिक-वैचारिक प्रमाण की अवस्था में रूप, गन्ध, स्पर्श समुदायात्मक धर्म का रूप-भेद मात्र ग्रहण करने पर भी, प्रत्यक्षरूप से समुदाय-सिद्धि की व्यवस्था होती है। इसी प्रकार एक "अतदुपपरावृत्त" [स्वलक्षण] के ग्रहण करने पर भी, साध्य और साधन दोनों सामान्यों का, जो कि अयोग्यवच्छेद से विषय बने हुए हैं तथा "अतदुपपरावृत्तवस्तुमात्र" है, व्याप्तिग्रहण उचित ही है।

त्रिलोचन का दूसरा तर्क अर्थात् "विकल्पों का अस्तित्व ही विषय है। वस्तु तो विकल्पों के परीक्षण में है।" इसे भी खण्डित करने हेतु रत्नकीर्ति कहते हैं कि यह ज्ञान भी दुर्ज्ञान है, क्योंकि अध्यवसीय की अवस्था से तो सभी विकल्प वस्तु-विषयक ही हैं।

1. "यदि यत्र ज्ञाने प्रतिभासते तद् ग्राह्यम्। यत्र तु तद् प्रवर्तते तदध्यवसीयम्" रत्न० निब० पृ० १०१।

2. "अतदुपपरावृत्तस्वलक्षणमात्र" से बोद्धों के "अपेक्षवाद" का स्पष्ट स्वरूप ज्ञात होता है।

→ शास्त्र में भी ऐसा ही प्रतिपादन हुआ है। अर्थात् बौद्ध-दर्शन में भी यही माना गया है कि सभी विकल्प अध्यवसेय की अपेक्षा से वस्तुविषयक हैं।

त्रिलोचन का यह मन्तव्य कि "हम तो बार-बार दर्शन की सहायता-प्राप्त मन से उस जाति वाले समस्त पदार्थों का सम्बन्ध-ग्रहण कर लेंगे" इसे भी खण्डित करते हुए रत्नकीर्ति ने कहा है कि मन से उस जाति वाले सभी पदार्थों का व्याप्तिग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि मन बाहर के विषयों में स्वतन्त्र नहीं है। यदि मन बाहर के विषयों को ग्रहण करने में स्वतन्त्र होता, तो संसार में कोई बन्धा तथा बहरा भी न होता।"

तत्पश्चात् रत्नकीर्ति त्रिलोचन के मत को पूर्ण रूप से निरस्त कर देने के उद्देश्य से कहते हैं कि न ही यह कहना उचित है कि अग्नि का व्यभिचार होने पर धूम उपाधिरहित सम्बन्ध का अतिक्रमण कर देगा, क्योंकि स्वकपाल-कल्पित स्वभाविक-स्वाभाविक-सम्बन्ध तो "याचितकमण्डन" ॥ माग कर पहने हुए आभूषणों से सज्जित ॥ के समान है। तात्पर्य यह है कि रत्नकीर्ति का मन्तव्य है कि आप ॥ त्रिलोचन ॥ स्वयं तो तदुत्पत्ति, तादात्म्य आदि के आधार पर व्याप्ति का ग्रहण मानते नहीं हैं, परन्तु फिर भी किसी न किसी रूप में आपको ॥ नैयायिकों को ॥ भी इन्हें मानना ही पड़ता है, अतः यह आपके लिए "याचितकमण्डन" के समान है। इस प्रकार त्रिलोचन के मत का रत्नकीर्ति ने उपहास किया है।

7. वाचस्पति मिश्र का मत :-

इसके पश्चात् रत्नकीर्ति वाचस्पति मिश्र¹ के व्याप्तिसम्बद्ध मत पर आते हैं। रत्नकीर्ति कहते हैं कि वाचस्पति मिश्र के कथनानुसार धूमादि का अग्नि आदि के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। →

1. द्रष्टव्य :- न्यायवाक्यालोक, न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 309-310.

अग्नि आदि का धूमादि के साथ स्वाभाविक-सम्बन्ध नहीं है। अग्नि आदि तो धूमादि के बिना भी उपलब्ध होते हैं। अग्नि आदि तो जब "वातैर्धन-संयोग" का अनुभव करते हैं, तब धूमादि के साथ सम्बन्ध होते हैं। अग्नि आदि का धूमादि के साथ औपाधिक सम्बन्ध है, स्वाभाविक नहीं। यहाँ स्पष्ट दिखाई देने वाली "वातैर्धनसंयोग" उपाधि है। इसलिए ^{अग्नि आदि का धूमादि के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है। धूमादि का} अग्नि आदि के साथ स्वाभाविक-सम्बन्ध है, क्योंकि वहाँ उपाधि प्राप्त नहीं होती। धूमादि का अग्नि आदि के साथ सदैव साहचर्य होने से तथा व्यभिचार न दिखाई देने के कारण न प्राप्त होने वाली उपाधि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। और न ही ऐसा कहना उचित है कि न दिखाई देती हुई भी उपाधि, दर्शन की अवश्यता के कारण, उपलब्धि ॥ उपाधि की उपलब्धि ॥ के साधक व अनुपलब्धि के बाधक प्रमाण के अभाव में सन्देह की जाती हुई, व्याप्ति-सम्बन्ध के स्वाभाविकत्व को रोकती है। तात्पर्य यह है कि वाचस्पति मिश्र के मत में, यदि उपाधि होगी, तो वह अवश्य दिखाई देगी, अतः न दिखाई देने पर उपाधि के होने की शङ्का नहीं करनी चाहिए।

बौद्ध कहते हैं कि तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति वाले नियामक-तत्त्व को न देखने वाले को अवश्य ही उपाधि की शङ्का करनी चाहिए।¹

नैयायिकों का कहना है कि इस प्रकार यदि शङ्का रूपी पिशाची को अवकाश दे दिया जाए, तो लौकिक मर्यादा का अतिक्रमण होने से अत्यन्त विस्तार को प्राप्त हुई शङ्का सर्वत्र है, ऐसा विचार करके प्रमाता कहीं भी प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि सर्वत्र ही किसी अनर्थ की किसी न किसी प्रकार शङ्का लगी ही रहेगी और अनर्थ की शङ्का बुद्धिमानों के लिए निवृत्ति का कारण होती है अर्थात् विचारशील व्यक्ति उस कार्य में कभी प्रवृत्त नहीं होते, जहाँ अनर्थ की शङ्का होती है—

1. "अवश्यं शङ्कया भाव्यं निष्प्रामादमपश्यताम्।" न्या० वा० ता० टी० न्यायदर्शनम्.

—> क्योंकि अच्छा, पौष्टिक भोजन आदि खाने-पीने पर भी सभी प्राणियों की मृत्यु ही देखी जाती है, अतः यदि सर्वत्र ही अनर्थ की शङ्का की जाए, तो यह लौक-यात्रा ही न करे, अतः प्रामाणिक लौक-यात्रा का अनुसरण करते हुए, जो दिखाई देता है, उसी की शङ्का करनी चाहिए। पहले कभी न देखे हुए की शङ्का नहीं करनी चाहिए। शरीर भी क्रिये स्मृति के आधार पर ही होता है, बिना स्मृति के शरीर भी नहीं होता और बिना अनुभव के स्मृति नहीं होती, अतः न देखे हुए विषय में कभी भी शङ्का न करनी चाहिए। इसीलिए मीमांसावातिकार कुमारिल भट्ट ने कहा है :-

"आशङ्का बिना प्रमाण के नहीं होती।" १.

इसलिए "उपाधि" को प्रयत्नपूर्वक छोड़ते हुए, न प्राप्त होने पर, "उपाधि नहीं है" ऐसा जानकर उपाधि-सम्बन्ध के स्वाभाविकत्व का निश्चय करते हैं।

वाचस्पति-मिश्र के अनुसार इस नैयायिक मत का खंडन करते हुए बौद्ध कह सकते हैं, आपकी नैयायिकों की बात सही हो सकती है, किन्तु एक वस्तु का यदि दूसरी वस्तु के साथ बिना किसी कारण के ही स्वाभाविक-सम्बन्ध हो जाये, तो सभी वस्तुएं, सभी वस्तुओं के साथ स्वभाव से ही सम्बद्ध हो जायेंगी। सभी वस्तुएं, सभी वस्तुओं से अनुमित हो जायेंगी।

बौद्धों की अपनी इस आपत्ति को नैयायिक उन्हीं के सिद्धान्त पर आरोपित करते हुए कहते हैं कि यही बात हम आप पर भी लागू कर सकते हैं। यदि एक वस्तु का दूसरी वस्तु कार्य है, तो सभी वस्तुएं, सभी वस्तुओं से क्यों नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि "अन्यत्व" नामक गुण तो सभी वस्तुओं में समान है। सभी वस्तुएं परस्पर अन्य हैं। सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होने पर वही अतिप्रसङ्ग हो जायेगा अर्थात् जो आपने बौद्धों ने हम नैयायिकों पर सभी का सभी के साथ स्वाभाविक-सम्बन्ध हो जाने का दोषारोपण किया है, वह आप पर भी लागू हो जायेगा।

1. भाषाङ्क निः प्रमाणा।

रत्नकीर्तिनिबन्धावलि में उद्धृत कुमारिल-भट्ट का मत,
पृ० सं० 107

यदि आप बौद्ध यह कहें कि भाव-पदार्थों के विषय में अधिक ज्ञानबीन नहीं करनी चाहिए, तो "अन्यत्व" नामक गुण सभी वस्तुओं में समान होने पर भी कोई वस्तु "कारण" ही होगी और "कार्य" कोई वस्तु होगी। इसके अलावा यदि आप बौद्ध यह कहें कि परस्पर भिन्न तथा अकार्यकारण हुए भी भाव-पदार्थों से सम्बद्ध यह प्रश्न "स्वभाव-प्रतिबन्ध" अर्थात् "व्याप्ति-सम्बन्ध" में भी समान ही है अर्थात् "स्वभाव-प्रतिबन्ध" के विषय में भी अधिक ज्ञानबीन नहीं करनी चाहिए, तो यह व्याप्ति-सम्बन्ध भी कुछ उपेक्षणीय वस्तु ही हुआ।

नैयायिकों के, बौद्धों के "स्वभाव प्रतिबन्ध" को ही कुछ वस्तु कहकर खंडन करने पर बौद्ध पृच्छते हैं कि किस प्रमाण से यह "स्वाभाविक-सम्बन्ध" ग्रहण किया जाता है ?

नैयायिक उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष से सम्बद्ध पदार्थों में "प्रत्यक्ष-प्रमाण" से व्याप्ति-सम्बन्ध का ग्रहण किया जाता है, जैसा कि दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि स्पष्टिक मणि की चमक के समान बार-बार दर्शन से जनित संस्कार की सहायता-प्राप्त इन्द्रिय ही धूमादि के अग्नि आदि के साथ स्वाभाविक-सम्बन्ध का ग्रहण कराती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से ज्ञात सम्बन्धों वाली वस्तुओं में भी भूमीदर्शन की सहायता-प्राप्त प्रमाणान्तर ही पहले के समान स्वाभाविक-सम्बन्ध ग्रहण करने में प्रमाण मानने चाहिये। इसके अलावा दूसरी बात यह है कि "हेतु" अपने "साध्य" से स्वभाव से ही सम्बद्ध रहता है। "यदि 'हेतु', 'साध्य' से रहित हो, तो वह अपने स्वभाव से ही स्थलित हो जायेगा" इस प्रकार तर्क की सहायता-प्राप्त हेतु तथा साध्या-भाव के रहने के विषय में सन्देह को खण्डित करने वाला हेतु अर्थात् "साध्य" वाला हेतु, जहाँ वर्तमान है, वहाँ अपने "साध्य" को उपस्थित करता ही है। तात्पर्य यह है कि "हेतु" सदैव "साध्य" से प्रतिबद्ध रहता है। इस प्रकार हम अन्य प्रमाण अनुमान आदि से भी स्वाभाविक-सम्बन्ध का ग्रहण कर सकते हैं।

8. बौद्धों द्वारा नैयायिक-मत का खण्डन :-

बौद्ध, नैयायिकों के उपर्युक्त मत का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं, कि हेतु व साध्य में भेद होने पर तदुत्पत्ति ॥ कार्य-कारण भाव ॥ ही "व्याप्ति" है। बौद्धों के कथन का तात्पर्य यह है कि यदि आप ॥ नैयायिक ॥ हेतु व साध्य को पृथक्-पृथक् मानते हों, तो "कार्य-कारण-भाव" ही व्याप्ति-ग्रहण का साधन हुआ, न कि भूयोदर्शन। स्वतः अविनाश-स्वभाव वाली, स्वाभाविक सम्बन्ध-रूप यह व्याप्ति या अन्य कोई व्याप्ति भूयोदर्शन-मात्र से सिद्ध नहीं होती। जैसे कि बौद्ध पूछते हैं कि जहाँ भूयोदर्शन-प्रवृत्ति है, वहाँ नियमित व्यवस्था ॥ स्वाभाविक-सम्बन्ध या व्याप्ति ॥ है अथवा जहाँ नियमित-व्यवस्था है, वही भूयोदर्शन-प्रवृत्ति है ?

अपनी इस शङ्का के विषय में बौद्ध इन दोनों पहलुओं पर विचार करते हुए कहते हैं कि प्रथम पक्ष में अर्थात् "जहाँ भूयोदर्शन की प्रवृत्ति है, वहाँ नियमित-व्यवस्था है" इस पक्ष को यदि हम मानें, तो "घट" से भी "कुलटा" का अनुमान हो जायेगा तथा "पार्थिवत्व" से भी "लौहलेख्यत्व" की सिद्धि हो जायेगी ॥ जो-जो वस्तु पार्थिव है, वह-वह लौहे से कुरेदे जाने योग्य भी है। ॥ क्योंकि यहाँ भूयोदर्शन है ही और भूयोदर्शन सञ्च होने से नियमित-व्यवस्था अर्थात् व्याप्ति-सम्बन्ध भी संभव है।

पुनः बौद्ध शङ्का करते हैं कि यदि आप ॥ नैयायिक ॥ यह कहें कि व्यभिचार-दर्शन के कारण ऐसा नहीं कह सकते अर्थात् भूयोदर्शन से साहचर्य दिखाई देने पर भी घट व कुलटा में, पार्थिवत्व व लौहलेख्यत्व में कहीं न कहीं हमें अवश्य व्यभिचार-दर्शन होता है, अतः घट-कुलटा तथा पार्थिवत्व-लौहलेख्यत्व में व्याप्ति नहीं बन सकती, तो यह व्यभिचार-दर्शन किसका है ? किसी भी व्यक्ति का, शास्त्रकार का अथवा प्रमाता का ?

प्रथम पक्ष में अर्थात् यदि किसी भी व्यक्ति को व्यवहार-दर्शन हो जाये, तो उससे प्रमाता को क्या लाभ ? क्योंकि प्रमाता तो अनुमान कर ही नहीं रहा, अन्य व्यक्ति ही अनुमान कर रहा है, तो जिसे व्यवहार-दर्शन हुआ, लाभ भी उसे ही होगा, न कि प्रमाता को। अन्यथा दूसरे व्यक्ति के उस विषय को प्रत्यक्ष करने से ही यदि प्रमाता भी कृतार्थ हो जाए तो उसे अनुमान को जाँजने की आवश्यकता ही क्या ? जैसा कि हम दैनिक जीवन में देखते हैं कि यदि बिना परिश्रम किए ही फल प्राप्त होता हो, तो परिश्रम करना कौन चाहता है ?

अब अटिठ अपनी शब्दों का के द्वितीय-पक्ष को रखते हुए कहते हैं कि न ही आस्तवचन से अव्यवहार-दर्शन से अनुमान होता है, क्योंकि "वाप्त" ॥ यथार्थ वक्ता, अतीतिरिक्त वचन बोलने वाला ॥ का निश्चय करना असम्भव है, ततः "वाप्त" की अन्यत्र सिद्धि करनी पड़ेगी। दूसरी बात यह भी है कि शास्त्रकार से पूछकर, धूम्र व अग्नि का सम्बन्ध देख लिये जाने पर भी प्रमाता धूम्र से अग्नि का ज्ञान करेगा, यह अलौकिक है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रमाता को अव्यय रहता हुआ भी व्यवहार दृष्टिगोचर हो ही और यह भी आवश्यक नहीं है कि जहाँ व्यवहार हो, वहाँ उसी काल व देश में व्यवहार की अवश्य प्रतीति हो ही। हम यह भी नहीं कह सकते कि प्रतीति न होने से वह वस्तु है ही नहीं क्योंकि व्यवहार के अतीतान रहने पर भी "दर्शन-सामग्री" के अभाव के कारण उसका दर्शन नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अत्यन्त विरकाल तक व्यवधान रहने पर भी न दिखाई देने से तथा अत्यन्त विरकाल पश्चात् व्यवहार-दर्शन से हम यह नहीं कह सकते कि "व्यवहार" है ही नहीं। जैसे :- किसी ब्राह्मण के साथ हमने किसी स्त्री को बार-बार देखा। —————>

1. "अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिव्याप्तं मनानाभिव्याप्तं च ॥ "

सांख्यकारिका ॥ ७०

इस कारिका में कपिल मुनि ने कोई वस्तु क्यों दिखाई नहीं देती, इसके कारण बताया है।

—→ हम मदैव उसे ^{‘प्राज्ञी’} “ब्रह्मणी” समझते रहे। अत्यन्त चिरकाल परचात् यह ज्ञात हुआ कि वह ब्राह्मणी नहीं, ब्रह्मणी है। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि व्यभिचार तो आरम्भ में ही था, परन्तु हमें ज्ञात न हुआ। अत्यन्त चिरकाल परचात् हमें व्यभिचार-दर्शन हुआ, परन्तु इसके साक्षर पर यह नहीं कहा जा सकता कि व्यभिचार नहीं है। इस प्रकार लौढ़ों ने शास्त्रकार को व्यभिचार-दर्शन होता है, इस पक्ष का भी ऊठन कर दिया।

इसके परचात् लौढ़ अपनी शङ्का के तृतीय तथा अन्तिम पक्ष पर दृष्टिपात करते हैं। लौढ़ों का कहना है कि यदि पुमाता को व्यभिचार-दर्शन हो, तो पुमाता ही छट व पाथिष में प्रवृत्त होता है अर्थात् पुमाता छट से कुलटा की व पाथिषत्व से लौहलेख्यत्व की सिद्धि करने में प्रवृत्त होता है। अतः इस विषय में हमारी लौढ़ों की शङ्का यह है कि पुमाता उसी समय व्यभिचार दर्शन कर लेता है अथवा कुमारा व्यभिचार-दर्शन करता है ? यदि पुमाता किसी भी प्रकार साध्य की सिद्धि करने में प्रवृत्त होता है अथवा प्रवृत्त होने पर भी सामग्री के अभाव के कारण व्यभिचार नहीं देख पाता, तो वह वज्र को लौहे से काटने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि वज्र भी पाथिष है तथा पाथिषत्व का लौहलेख्यत्व के साथ भूमीदर्शन पुमाता को ही ही चुका है। अतः यह तो बड़े पाण्डित्य की बात होगी कि वज्र को लौहे से काटने का अनर्थक प्रयत्न करने पर स्पष्टतः ही पुमाता का अपमान हो जायगा।

इस प्रकार अपनी शङ्का के तीनों पक्षों पर विचार करते हुए अन्त में अपने मत की दृष्टि करते हुए लौढ़ कहते हैं कि यदि व्यभिचार के अदर्शन से अनुमान हो, तो अदृष्ट व्यभिचार वाले पुमाता को छट से कुलटा का तथा पाथिषत्व से लौहलेख्यत्व का भी अनुमान होगा। —→

—> अतः अदर्शन-मात्र से व्यभिचार का अभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही सर्वत्र अभाव की सिद्धि में कारण होती है। इसलिए अधिक बार सहचार-दर्शन मात्र से न तो हेतु के व्यभिचारी होने का, न ही अव्यभिचारी होने का निश्चय होता है, अतः शङ्का का अवसर है।

पुनः बौद्धों के मत का ज्ञान करते हुए नैयायिक शङ्का करते हैं कि यदि आप ॥ बौद्ध ॥ यह मानते हैं कि व्यभिचार के अदर्शन से अनुमान नहीं होता, तो व्यभिचार के न दिखाई देने के कारण धूम से अग्नि का अनुमान भी नहीं होना चाहिए।

बौद्ध प्रतिपक्षी की शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का शङ्कावकाश सदैव तदुत्पत्ति से रहित व्याप्ति में ही संभव होता है अर्थात् तदुत्पत्ति से रहित व्याप्ति में ही धूम से अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता। हमारे ॥ बौद्धों के ॥ मत में तो 'तदुत्पत्ति' मानने के कारण धूम से अग्नि का अनुमान हो जाता है। कभी प्रमाता साध्य की सिद्धि में प्रवृत्त हुआ व्यभिचार देखता है और यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि जहाँ भ्रूयदर्शन है, वहाँ नियमित-व्यवस्था नहीं होती, तो "धूम" में स्वाभाविक-सम्बन्ध की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

बौद्धों की इस शङ्का के समाधान में नैयायिक कहते हैं कि यदि ऐसा है तो जिस प्रकार द्विचन्द्रादि में चक्षुरादि का प्रत्यक्ष मलिन परिणाम वाला है, तो घटादि का, "प्रत्यक्ष" भी नहीं होगा, "अनुमान" की तो बात ही क्या ? क्योंकि एक स्थान पर प्रत्यक्ष मलिन परिणाम वाला हो चुका है, अतः सर्वत्र उसका विश्वास नहीं किया जा सकता।

बौद्ध कहते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि "प्रत्यक्ष" इन्द्रियविषयक कार्य है। द्विचन्द्रादि का ज्ञान अर्थकार्यत्व के अभाव के कारण ऐसा नहीं है, इसलिए परस्पर भिन्न लक्षण होने से अर्थात् द्विचन्द्रादि में "अर्थकार्यत्व" न होने से तथा "घट" में "अर्थकार्यत्व" होने से प्रत्यक्षाभास होने पर भी "घटज्ञान" प्रत्यक्ष ही है। धुमादि में और पार्थिवत्व आदि में लक्षणभेद नहीं है अर्थात् धूम से अग्नि के अनुमान में तथा पार्थिवत्व से लौहलेख्यत्व के अनुमान में, दोनों में अर्थकार्यत्व है। इसलिए यहाँ हम अनुमान, भ्रमोद्देश के मलिन पारुष्य वाला होने के कारण नहीं कर सकते। अतः एक भी स्थान पर व्याप्तिग्राहक "भ्रमोद्देश" का विश्वास नहीं किया जा सकता।

यदि नैयायिक ऐसी शङ्का करें कि अर्थकार्यत्व और अकार्यत्व को ही लक्षणभेद मान लिया जाए, तदुत्पत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है ? तो बौद्ध पूर्वपक्षी की इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि घटादि-ज्ञान में अर्थकार्यत्व का विवाद होने पर प्रमाणान्तर से अथवा अर्थ-क्रिया की प्राप्ति से निश्चय होता है, केवल कथन-मात्र से नहीं। और न ही यहाँ "यह धूम का अग्नि के साथ सहचार सदातन है अथवा दो मित्रों के समान अत्ययपूर्वक अव्यभिचारसहित" ग्रहण किया गया है।" यह संशय होने पर सदातन सहचार के साधक प्रमाणान्तर की सङ्गति है अथवा न ही उसका कार्य कोई उपलब्ध होता है। अतः अर्थकार्यत्व और अकार्यत्व को लक्षणभेद का आधार नहीं मान सकते।

अब बौद्ध आगे कहते हैं कि यदि आप { नैयायिक } यह कहें कि बाध्यमानत्व और अबाध्यमानत्व स्वरूप वाला लक्षणभेद होगा, तो यह भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ अव्यभिचार के ग्राहक भ्रमोद्देश के बाधितत्व की असिद्धि है—

→ और बाधा के न होने पर एक को छोड़कर सबका निषेध प्रसज्यप्रतिषेध करने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाणान्तर की सङ्गति अथवा अर्थक्रिया की प्राप्ति नामक अपवादपूर्वक निषेध पर्युदास भी असिद्ध है, अतः प्रथम पक्ष, अर्थ-कार्यत्व तथा अकार्यत्व के आधार पर लक्षणभेद नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरा पक्ष अर्थात् बाध्यमानत्व और अबाध्यमानत्व के आधार पर भी लक्षणभेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि नियमित-सम्बन्ध व्याप्ति के अभाव होने पर भी "पार्थिवत्व" आदि में "भूयोदर्शन" संभव है। अतः व्याप्ति को भूयोदर्शन से जानी जाने वाली नहीं माना जा सकता।

१०. वाचस्पति-मिश्र के मत का छानना :-

अब रत्नकीर्ति वाचस्पति मिश्र के मत पर विचार करते हैं और अत्यन्त ज़ोरदार शब्दों में उस मत का भी छानना करते हुए कहते हैं कि जो कुछ भी वाचस्पति ने कहा कि जो जहाँ उपाधि से नियत है, वहाँ उसका स्वाभाविक-सम्बन्ध है, जैसे अग्नि में धूम का। उस उपाधि के दृश्य होने पर भी न प्राप्त होने के कारण, कहीं व्यभिचार के न दिखाई देने के कारण यह स्वाभाविक-सम्बन्ध है, यह यहाँ विचार किया जाता है। जिसके न दिखाई देने से स्वाभाविक-सम्बन्ध निश्चित किया जाता है, वह धूम-स्वरूप से दूसरी वस्तु "उपाधि" कही जानी चाहिए। जैसे अग्नि से दूसरी वस्तु "इन्धन"।

रत्नकीर्ति कहते हैं कि दूसरी वस्तु कोई दृश्य और कोई अदृश्य होती है। सभी वस्तुओं की दृश्यता निश्चित नहीं है और इसलिए धूम की भी "अग्नि" में "उपाधि" हो, परन्तु वह प्राप्त नहीं होती है, इस प्रकार की उपाधि-मात्र की अनुपलब्धि अनेकान्तिकी अनिवार्य नहीं है। रत्नकीर्ति कहते हैं:-

"तत्कथमदर्शनमात्रान्नास्त्येवोपाधिः, यतः स्वाभाविकसम्बन्धसिद्धिः स्यात् ।" ॥रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः, पृ० सं० 109॥

अर्थात् यदि उपाधि की अनुपलब्धि हो ही जाए, यह आवश्यक नहीं है, तो कैसे केवल अदर्शन मात्र से उपाधि नहीं है।, ऐसा निश्चय किया जा सकता है और जब तक उपाधि की अनुपलब्धि का निश्चय न हो, तब तक स्वाभाविक-सम्बन्ध की सिद्धि कैसे हो सकती है ? और यदि हम दृश्य उपाधि का अभाव सिद्ध करें, तो सिद्ध की ही सिद्धि हो जायेगी। दूसरी और अदृश्य उपाधि की शङ्का होने पर स्वाभाविकत्व का पुतिरोध वैसा ही रहेगा। अर्थात् यदि हम उपाधि के न दिखाई देने पर भी शङ्का करते रहे, तो स्वाभाविक नियम ॥व्याप्ति॥ बन ही नहीं पायेगा।

वाचस्पति-मिश्र का दूसरा तर्क कि कहीं व्यभिचार के न दिखाई देने से स्वाभाविक-सम्बन्ध है, यह बात भी अनुचित ही है, क्योंकि "उपाधि" के समान "व्यभिचार" की भी अदर्शन-मात्र से अभाव की सिद्धि होगी। और "व्यभिचार" के प्रत्येक स्थान तथा काल में सभ्य होने पर भी, दिखाई देने पर भी, सभी वस्तुओं के साथ हर समय, प्रत्येक स्थान पर सामग्री का अभाव होने पर भी निश्चित करना असंभव है, क्योंकि "ब्राह्मणी" आदि के व्यभिचार के समान ही निषेध करके अदर्शन होने पर भी देशकालान्तर में उसके दर्शन का निषेध करना असंभव है। तात्पर्य यह है कि व्यभिचार रहते हुए भी यह आवश्यक नहीं कि हमें दिखाई दे ही, अतः यह नहीं माना जा सकता कि कहीं व्यभिचार के अदर्शन के कारण स्वाभाविक-सम्बन्ध है।

तत्पश्चात् रत्नकीर्ति कहते हैं कि यदि आप ॥वाचस्पति मिश्र॥ यह कहते हैं कि "धूम्र" की अपेक्षणीय अन्य वस्तु उपाधि है, तो "धूम्र" कहने से ही "अग्नि" की सत्ता की प्रतीति कैसे होगी ? —————→

—> तो हम यही तो विचार-विमर्श कर रहे हैं कि क्या धूम के होने पर अवश्य "अग्नि" होगी अथवा नहीं? कभी अन्य वस्तु "उपाधि" की अपेक्षा कर "धूम" भी हो, परन्तु "अग्नि" न हो, इसमें कौन सा निश्चित कारण है? अतः 'अग्नि' के अधीन उत्पत्ति वाला धूम सुनिश्चित है, उसके {अग्नि के} अभाव में कैसे "धूम" का भाव स्वीकार किया जाए? अर्थात् "अग्नि" के अभाव में "धूम" के भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती, यही कहना उचित है।

पुनः रत्नकीर्ति कहते हैं कि यदि पूर्वपक्षी यह शङ्का करे कि "यदि धूम व्यक्ति अथवा जाति में अग्नि का व्यभिचार नहीं देखा गया, तो वहाँ आशङ्का कैसे की जाए? तो हमारा {बौद्धों का} कहना यह है कि क्या स्थाणु व्यक्ति में अथवा जाति में पुरुषत्व देखा गया है जिससे "स्थाणु" में शङ्का की जाती है? यदि आप {नैयायिक} यह शङ्का करें कि स्थाणु को तो दूसरी जगह उद्ध्वेता से चिह्नित देख लिया जाता है, इसलिए उसमें शङ्का की जाती है, तो हमारा {बौद्धों का} कहना यह है कि यहाँ भी बार-बार साथ रहने वाले "पार्थिवत्वादि" में व्यभिचार ही देखा जाता है। अतः धूम में अग्नि के व्यभिचार की आशङ्का होगी ही। रत्नकीर्ति कहते हैं कि यह एक अलौकिक बात है कि जहाँ जिसका संज्ञा होता है, वही उसका दर्शन अपेक्षित होता है। यदि "धूम" व्यक्ति में व्यभिचार देखा गया, तो "व्याप्ति" में धूमसामान्य बहिर्भूत ही है, अतः संज्ञा कैसे किया जाए? यदि "धूम" जाति में व्यभिचार देखा गया, तो भी व्यभिचार का निश्चय ही है, अतः "संज्ञा" का पुरन ही कहाँ उठता है? इसलिए "धूम" जाति में न दिखाई देता हुआ भी व्यभिचार अथवा उपाधि का, दर्शन की अपेक्ष्यता के कारण निषेध करना असंभव है, अतः संज्ञा तो होगा ही।

और इस समय वह उपाधि अथवा व्यवहार का सशय, स्वाभाविक-
त्वसंशयस्वभाव जो है, वह स्वाभाविकत्वनिश्चय अर्थात् व्याप्ति के निश्चय
को अवश्य रोकता है। इसलिए स्वाभाविकत्वनिश्चय का प्रतिबन्ध ही अर्थतः है,
क्योंकि जब तक "स्वाभाविकत्वनिश्चय" न हो, तब तक गमक {हेतु} स्वयं कुछ नहीं
कर सकता। तो इस प्रकार उपाधि की अनुपलब्धि अथवा व्यवहार की अनुपलब्धि
अनैकान्तिकी {अनिवार्य नहीं} है। अतः उन दोनों उपाधि अथवा व्यवहार
के अभाव को, यह उपाधि अथवा व्यवहार की अनुपलब्धि सिद्ध नहीं करती,
जिससे हम सम्बन्ध के स्वाभाविकत्व का निश्चय कर सकें। दूसरी बात यह है कि
यदि "उपाधि" सिद्ध नहीं हो पाती, तो यह "उपाधि" "अनुपलब्धि" है,
जैसे अग्नि, इन्धन के बिना धूम से सम्बद्ध नहीं होती, ^{वैसे ही धूम भी इन्धन के बिना अग्नि से सम्बद्ध} अतः "इन्धन" का दोनों नहीं होता,
जगह समान ही "उपाधिकत्व" है।

रत्नकीर्ति पुनः अपने मत को पृष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि पूर्वपक्षी
{नैयायिक, मीमांसक} यह आशङ्क करे कि "अग्नि की सिद्धि होने पर इन्धन
के सानिध्य से धूम की प्राप्ति होती है तथा इस प्रकार उपाधि की व्यवस्था
होती है। दूसरी ओर धूम के असिद्ध होने पर तो तन्निमित्त {उसके कारण
'अग्नि' की प्राप्ति होने से अव्यवहार से स्वाभाविक-सम्बन्ध की स्थापना
होती है" तो हमारा {बाँटो का} इस विषय में कहना यह है कि ऐसा होने पर
भी वही "तदुत्पत्ति" का सिद्धान्त या गया अर्थात् इस "तदुत्पत्ति" को मानने
बिना तो आपका कार्य ही नहीं चल सकता। इस "तदुत्पत्ति" सिद्धान्त को
तो आपको मानना ही होगा। यही स्वाभाविक-सम्बन्ध है। केवल कथन-मात्र
से सिद्ध सहचार-मात्र ही स्वाभाविक-सम्बन्ध नहीं है। सहचार मात्र को ही
स्वाभाविक-सम्बन्ध मानने पर तो स्वाभाविकता से सर्वत्र अव्यवहार और सर्वत्र
अव्यवहार से स्वाभाविकत्व होगा। —————→

→ इस प्रकार इन दोनों का एक दूसरे के आश्रित रहना अनिवार्य होगा।
~~इस ही तरह~~ दूसरी ओर जिसकी एक बार उत्पत्ति की प्रतीति ही सर्वत्र
 अव्यभिचार की प्रतीति है, वहाँ यह प्रसङ्ग ही नहीं उठता। अतः
 तदुत्पत्तिनिमित्तक ही "व्याप्ति" माननी चाहिए।

व्याप्तिविषयक विवाद को जारी रखते हुए आगे रत्नकीर्ति कहते हैं
 कि यदि आप {नैयायिक} यह शङ्का करें कि "यदि ऐसा है अर्थात् यदि
 आप {बौद्ध} तदुत्पत्ति की एक बार उत्पत्ति की प्रतीति को ही सर्वत्र
 अव्यभिचार की प्रतीति मानते हैं, तो मेरी {वाचस्पति मिश्र} भी भूयोदर्शन
 से अव्यभिचार-सिद्धि हो जायेगी" तो हमारा {बौद्धों का} कहना यह है कि
 ऐसा नहीं है अर्थात् भूयोदर्शन से आप अव्यभिचार की सिद्धि नहीं कर सकते।
 "भूय" इस प्रकार असीमित संख्या होने से कितनी बार दर्शन से लक्षणानुसारी
 पूर्णता को {ज्ञान को} प्राप्त करागे ? हमारे {बौद्धों के} मत में तो प्रत्यक्ष
 और अनुपलब्धि में ये दो सीमित संख्याएँ ही हैं। इन दोनों के आधार पर ही
 हम "स्वाभाव-प्रतिबन्ध" का निश्चय कर लेते हैं। जैसा कि कहा गया है:-

"प्रागदृष्टौ कृमात् पश्यन् वेदित हेतुबलस्थितिम्।

दृष्टौ वा कुम्भात् पश्यन्नन्यथा त्वनवस्थितिरिति ॥ १० ॥

अर्थात् पहले न देखने पर, कुम से देखता हुआ

प्रमाता हेतु तथा फल की स्थिति को जान जाता है अथवा कुम्भात् देखने पर
 बाद में न देखता हुआ, हेतु तथा फल की स्थिति को जान जाता है। यदि
 ऐसा न हो तो अनवस्था-दोष² हो जाएगा।

1. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली :- पृ० सं० 169.

2. जैसे बीज व अङ्कुर में से पहले किसकी उत्पत्ति हुई, इसका यदि निश्चय न
 कर पाये और यह चक्र चलता ही रहे, तो इसे अनवस्था-दोष कहते हैं।

सब रत्नकीर्ति वाचस्पति-मिश्र के एक अन्य तर्क पर आते हैं। रत्नकीर्ति ने "व्याप्तिनिर्णयः" में कहा है कि जो वाचस्पति ने न प्राप्त होने पर कल्पना की अनुपपत्ति वाली बात कही, वह तो बालक के लिए भी कहना अनुचित है, क्योंकि अप्राप्त वस्तु में कल्पना का अवकाश तो होता ही है। दृश्यमान "घट" कल्पित नहीं कहा जा सकता। प्राप्त वस्तु में तो कल्पना की संभावना भी नहीं है।

साथ ही यह कहना भी उचित नहीं है कि सन्देह की जाती हुई उपाधि व्याप्ति-सम्बन्ध की स्वाभाविकता को रोकती है, क्योंकि साधक और बाधक प्रमाण का अभाव होने पर ही तर्ज करना उचित है। यदि "उपाधि" के अभाव का साधक तथा "उपाधि" के रहने का बाधक प्रमाण वर्तमान है, तो सन्देह का अवसर ही कहा रह जाता है ? इसलिए सर्वत्र शङ्का नहीं की जा सकती और जब सर्वत्र शङ्का नहीं की जा सकती, तो प्रमाता प्रवृत्त कैसे न हो ? अर्थात् प्रमाता तो प्रवृत्त होगा ही।

रत्नकीर्ति पूर्वक्ष की सभी संभावनाओं का ऊँटन करते हुए कहते हैं कि यदि आप नैयायिक ऐसी शङ्का करें कि "प्रमाण" के विषय में भी शङ्का की जा सकती है, तो हमारा बौद्धों का कहना यह है कि प्रमाण के विषय में शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि स्वीकृत प्रमाण निश्चय ही पलटायी होता है। इसलिए अविवादित प्रमाण के विषय में, प्रमाण के निश्चय स्वीकार से अभिन्न ही उसका स्वीकार है।

और न ही वाचस्पति मिश्र द्वारा ऐसा कहना उचित है कि "शङ्का है", अतः प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि अर्थे लक्ष्य का संशय होने पर भी स्नेहपूर्वक पौष्टिक भोजनादि का उपयोग देखा ही जाता है।

ततः प्रवृत्ति तौ अनिवार्य ही है। पौष्टिक भोजन-पानी आदि खाने-पीने पर भी किसी समय प्रत्येक प्राणी की मृत्यु ही देखी जाती है, तब भी करोड़ों लोग जीवित दिखाई देते हैं, ततः शीघ्र होने पर भी प्रवृत्ति सकार्य होती है और न ही हमने प्रामाणिक लोक-यात्रा की हानि होती है, क्योंकि शास्त्रकारों [प्रामाणिकों] ने ही प्रमाण के अभाव में शीघ्र का विधान किया है।

रत्नकीर्ति, वाचस्पति मिश्र के मत का छूटन करते हुए आगे कहते हैं कि वाचस्पति-मिश्र की यह बात कि दर्शन के अनुसार ही शाङ्का करनी चाहिए, इत्यादि बातें भी सिद्ध की ही गिंदि हैं, क्योंकि अन्य स्थान पर देखे गये स्वाभाविक-सम्बन्ध में भी उपाधि अथवा व्यभिचार की शङ्का की जाती है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि बाधक के अदर्शन होने पर भी तथा साधक के अभाव होने पर भी शङ्का होगी ही।

तब रत्नकीर्ति वाचस्पति-मिश्र के मत का पूर्णतः निषेध करते हुए कहते हैं कि जो भी आपने "स्यादेतत्" आदि शब्दों से कहा है एक वस्तु का यदि दूसरी वस्तु कार्य है, तो सभी वस्तुएं, सभी वस्तुओं से उत्पन्न क्यों नहीं हो जाती, क्योंकि "अन्यत्व" नामक गुण सभी में समान है, इत्यादि बातें कहीं है वह भी निःसार ही है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध रूप में ही स्वभाव का अवलम्बन होता है। स्वभाव के अवलम्बन से ही वस्तुस्वरूप-व्यवस्था नहीं होती। तो यदि "स्वभाववाद" निश्चित विषय के अन्वय तथा व्यतिरेक के ग्राहक, प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्ध प्रमाण से सिद्ध, हेतु तथा फल के होने पर ही, तो स्वाभाविक-सम्बन्ध में कहा से आ गया ?

रत्नकीर्ति अपने मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि "तदुत्पत्ति" रूपी सामग्री को हृदय से दूर करके, अन्य दो सहचारों अन्वय सहचार तथा व्यतिरेक सहचार से विशेषरूप से उतीति होने पर, तदुत्पत्ति का ऊँ उन नहीं किया जा सका। उस सामग्री के अनेक होने पर वह "तदुत्पत्ति" ही है। अर्थात् दो सहचारों की सामग्री के अपेक्षित होने से वहाँ भी "तदुत्पत्ति" ही है। उस "तदुत्पत्ति" को ही दूसरा नाम देकर अहभाव पुदरित करने से क्या लाभ ?

बिना कित प्रमाण से यह स्वाभाविक-सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है, इत्यादि उसके ग्रहण का प्रकार पहले ही निराकृत कर दिया गया है। इसी प्रकार स्वाभाविकता की अतिरिक्ति होने पर "स्वभावतः प्रतिबद्ध हेतु" इत्यादि उपसंहार भी केवल मानसिक कल्पना है।

10. स्वमतस्थापन :-

इस प्रकार वाचस्पति-मिश्र के मत की समूल छण्डित करके रत्नकीर्ति अपने मत की दृढ़ करते हुए कहते हैं कि इसलिये किसी अन्य वस्तु के जानने में कार्यहेतु तथा उसके भाव की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होती है यह निरिचत ही है। अपने निबन्ध के अन्त में रत्नकीर्ति कहते हैं कि:-

"तदेवं स्वाभाविकत्वादेन हृदयानुलेपनमशुचिर्नैव परिहार्यं दूरत इति ।"

तो इस प्रकार स्वाभाविकत्वात् से हृदयानुलेपन, अपवित्र के समान छोड़कर, दूर कर दिया गया।

इस प्रकार लेखक रत्नकीर्ति ने अपने इस निबन्ध में सरल, सुन्दर, प्राजल भाषा में, स्पष्ट शब्दों में नैयायिकों तथा नीमासिकों के मत उद्धृत करते हुए, उनके मतों का क्रमशः विस्तारपूर्वक खण्डन करते हुए, अपने बौद्ध-मत को प्रतिपादित किया है तथा साथ ही साथ अपने मत की पृष्टि में विभिन्न तर्कों भी दिए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नकीर्ति ने ग्यारहवीं सदी के उस काल में, जो कि "न्याय" की दृष्टि से कुछ अधिकारमय प्रतीत हो रहा था, अपना "व्याप्तानेर्णमः" नामक निबन्ध लिखकर "तर्कशास्त्र" को बहुत अधिक योगदान दिया तथा बौद्ध-न्याय की बहु-प्रचलित परम्परा, जो लुप्तप्रायः प्रतीत होने लगी थी, उसे पुनर्जीवित किया।

"उपसंहार"

=====

इस प्रकार सम्पूर्ण निबन्ध में हमने पाया कि भारतीय-दर्शन के इतिहास में हिन्दु-न्याय तथा बौद्ध-न्याय विकास की एक अनोखी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों की दृष्टि में "वस्तुवाद" तथा "विज्ञानवाद" का मौलिक-भेद है। इसी मौलिक भेद के कारण दोनों परस्पर एक दूसरे की आलोचना करते रहे, जिसके कारण काफी लम्बे समय तक "न्याय" के क्षेत्र में विद्वान् होते रहे तथा "न्याय" का सहित्य समृद्ध तथा जोशीला बना। वास्तव-न्याय तथा बौद्ध-न्याय का काफी लम्बे समय तक यह समानांतर विकास, जिसमें प्रत्येक ने दूसरे पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाला, वास्तव में बेजोड़ है। बौद्ध, दूसरे सम्प्रदायों, विशेषकर मीमांसकों के विचारों से अत्यन्त प्रतिक्रिया रखते थे, लेकिन न्याय-शास्त्र के विषय में नैयायिकों से जितनी उनकी प्रतिक्रिया कमबद्ध तथा लम्बे समय तक चली, उतनी और किसी भी क्षेत्र में ही नहीं।

बौद्ध-न्याय के क्षेत्र में, दिङ्नाग से पहले नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु आदि ने बहुत कुछ कार्य किया, परन्तु नियमित रूप से बौद्ध-न्याय की स्थापना करने का श्रेय दिङ्नाग को ही प्राप्त है। रत्नकीर्ति दिङ्नाग-सम्प्रदाय के ही हैं तथा उन्होंने दिङ्नाग की परम्परा को आगे बढ़ाने में "व्याप्तिनिर्णयः" नामक निबन्ध लिखकर, अत्यन्त योगदान दिया है। अनुमान के अन्तर्गत व्याप्ति-विषयक विवाद बौद्ध-न्याय का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा बौद्ध-दर्शन में व्याप्तिविषयक विवाद के मुख्य विषय हैं :-

1. "हेतु" कितने प्रकार का होना चाहिए ?
2. "अनुमेय" क्या होता है ?
3. "व्याप्ति" का स्वरूप क्या है ?

रत्नकीर्ति के "व्याप्तिनिर्णय" में न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा को पूर्वपक्ष के रूप में दर्शाया गया है तथा दिग्-नाग-सम्प्रदाय के बौद्ध-दर्शन के आचार्य उत्तरपक्ष अथवा सिद्धान्ती के रूप में प्रकट किए गये हैं। बौद्ध "प्रमाण-व्यवस्था" को मानते हैं, जबकि अस्तिक दर्शन "प्रमाण-संप्लव" को मानते हैं। "प्रमाण-संप्लव" का तात्पर्य है :- एक पदार्थ को विभिन्न प्रमाणों से जानना अथवा किसी विषय को एक से अधिक प्रमाणों से जानना। न्याय-वैशेषिक दर्शन किसी शरीर में "प्रमाण-व्यवस्था" को भी मानता है, परन्तु अधिकारितः "प्रमाण-संप्लव" को ही इस दर्शन में माना गया है। "प्रमाण-व्यवस्था" का तात्पर्य है :- "किसी विषय को एक ही प्रमाण से जानना"। बौद्ध केवल "प्रमाण-व्यवस्था" को ही मानते हैं।

बौद्ध-दर्शन का मत है कि स्तलक्षणा तथा सामान्यलक्षणा-दो प्रकार के विषय होते हैं तथा इन विषयों को ग्रहण करने वाले "प्रमाण" भी दो प्रकार के होते हैं। "स्तलक्षणा" को ग्रहण करने वाला "प्रत्यक्ष-प्रमाण" तथा "सामान्यलक्षणा" को ग्रहण करने वाला "अनुमान-प्रमाण" कहलाता है। दोनों प्रमाण एक दूसरे के विषय-क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकते।

बौद्ध व न्याय-वैशेषिक दर्शन दोनों की प्रमेयविषयक मान्यताएँ भी एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। प्रमेयविषयक मान्यताएँ दोनों की अलग-अलग हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थों की कोई अवधि है, जबकि बौद्ध-दर्शन के अनुसार पदार्थ क्षणिक है।

बौद्ध-न्याय में अनुमान के विषय तीन प्रकार के सम्बन्धों से जुड़े हुए माने गए हैं :-

१. तादात्म्य ॥ स्वभाव ॥
२. तदुत्पत्ति ॥ कार्य ॥
३. अनुपलब्धि ॥ अभाव ॥ ।

मुख्य तो उपर्युक्त दो ही सम्बन्ध हैं, "अनुपलब्धि" गौण है। "तादात्म्य" होने पर "व्याप्ति" में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। किसी कार्य को देखकर कारण का अनुमान "तदुत्पत्ति" है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में "साहचर्य-नियमों" व्याप्तिः" कहा गया है अर्थात् "सहचार-नियम" को व्याप्ति माना गया है।

बौद्ध-न्याय के अनुसार भाव-पदार्थों में "व्याप्ति" दो प्रकार से पाते हैं :- 1. तादात्म्य के अनुसार 2. तदुत्पत्ति के अनुसार। तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति के आधार पर व्याप्ति का निश्चय होता है। नैयायिकों ने तादात्म्य का खंडन किया है। जब वस्तु एक ही है, तो उसे हम कल्पना से अलग-अलग कैसे कर सकते हैं ? 'तदुत्पत्ति' को कुछ हद तक नैयायिक मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार व्याप्ति का क्षेत्र तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति तक ही सीमित न होकर कहीं अधिक विस्तृत है। व्याप्तिसम्बन्ध स्वाभाविक, निरुपाधिक सम्बन्ध है, कार्य-कारण भाव हो या नहीं। नैयायिक "वस्तुवादी" हैं।
"अनुपलब्धि" के विषय में नैयायिक का मत है कि जिस प्रमाण से जिस वस्तु का भाव ग्रहण होता है, उसके अभाव उसी प्रमाण से का भी ग्रहण होता है, अतः "अनुपलब्धि" को वे नहीं मानते।

"व्याप्तिनिर्णयः" में पूर्वपक्ष के रूप में कुमारिल भट्ट, वाचस्पति मिश्र तथा त्रिलोचन के मत दिए गए हैं तथा सिद्धान्ती रत्नकीर्ति स्वयं हैं।

"व्याप्तिनिर्णयः :- एक अध्ययन" नामक निबन्ध में जैसा कि आप देख ही चुके हैं - हमने इस निबन्ध को पाँच अध्यायों के रूप में रूपायित किया है। प्रथम अध्याय में हमने दिङ्नाग-सम्प्रदाय की अनुमान-विश्लेषक धारणा को स्पष्ट किया है। इस अध्याय में सर्वप्रथम बौद्धों की प्रमाणविश्लेषक मान्यताएँ निरूपित की गई हैं। "प्रमाण" किसे कहते हैं ? "प्रमाण" कितने प्रकार के हैं ? प्रमाणों का विषय अर्थात् "प्रमेय" क्या है ?

इन सब विषयों में धर्मकीर्ति के "न्यायबिन्दु", "प्रमाणवार्तिक" तथा वाचस्पति मिश्र की "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में वर्णित बौद्धों के प्रमाण-विषयक विचारों में से उद्धरण दिए गये हैं। धर्मकीर्ति के मत में वह ज्ञान "प्रमाण" है, जो अपने द्वारा उपदर्शित वस्तु की प्राप्ति कराने की सामर्थ्य रखता है। बौद्धों के मत में "प्रमाण" के दो प्रकार हैं :- प्रत्यक्ष तथा अनुमान। अन्य दर्शनों द्वारा स्वीकृत इन दो के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का भी बौद्ध इन्हीं दो प्रमाणों में अन्तर्भाव कर देते हैं। "प्रमेय" भी दो ही माने गये हैं:-

स्वलक्षणा तथा सामान्यलक्षणा। प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों के ग्राह्य और अध्वरसेय के प्रकार हैं। प्रत्यक्ष का ग्राह्य भेद से दो-दो विषय "स्वलक्षणा" तथा अध्वरसेय "सामान्यलक्षणा" है। इसके विपरीत अनुमान का ग्राह्य विषय "सामान्यलक्षणा" तथा अध्वरसेय विषय "स्वलक्षणा" है। इसके पश्चात् इस अध्याय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण का स्वरूप प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। बौद्धों के मत में कल्पनारहित ज्ञान ही "प्रत्यक्ष" है। तत्पश्चात् अनुमान का स्वरूप, अनुमिति के करण या "हेतु" के प्रकार तथा स्वभाव-प्रतिबन्ध {व्याप्ति} को निरूपित किया गया है। "हेतु" को बौद्धों ने त्रैलोक्यसम्पन्न माना है। ये त्रिरूप हैं:-

1. पक्ष में विद्यमान होना।
2. सपक्ष में विद्यमान होना।
3. विपक्ष में विद्यमान न होना।

इसके बाद त्रिरूपसम्पन्न हेतु से अनुमिति कैसे होती है ? इसका विवेचन करते हुए व्याप्ति, अविनाभाव-नियम या स्वभाव-प्रतिबन्ध का रूप स्पष्ट किया गया है। बौद्ध स्वभाव-प्रतिबन्ध को तादात्म्य ^{अथवा} तदुत्पत्तिनिमित्तक मानते हैं। अभाव पदार्थ का ग्रहण वे "अनुपलब्धि" से मानते हैं।

इसके बाद बौद्धों के मत में अनुमान का विषय मानस है, बाह्य नहीं तथा अनुमान के दो रूप :- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान आदि से सम्बद्ध विचारों का स्पष्टीकरण किया गया है। तत्पश्चात् बौद्धों की इन प्रमाण-विषयक मान्यताओं के आधारस्वरूप अन्य सिद्धान्त क्षमङ्गवाद, अनात्म-वाद, अपोहवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि का सङ्क्षेप में वर्णन किया गया है।

"व्याप्तिनिर्णयः - एक अध्ययन" नामक निबन्ध के द्वितीय अध्याय में न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा दर्शन के अनुमानविषयक विचारों को प्रकट करते हुए व्याप्ति-सम्बन्ध का अत्यन्त स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। इस अध्याय में नैयायिक सम्मत "प्रमाण" का अर्थ, प्रमाण के प्रकार, प्रत्यक्ष-प्रमाण आदि को बताते हुए अनुमान-प्रमाण का स्वरूप, विभिन्न दृष्टिकोणों से अनुमान प्रमाण के भेद, पञ्चावयववाक्य, पञ्च हेतु-रूप, पञ्च हेतुवाभास आदि का विवेचन करते हुए व्याप्तिविषयक धारणा पर आने का प्रयास किया गया है। नैयायिक-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसक दार्शनिक व्याप्ति को "भूयोदर्शन" से होने वाली मानते हैं तथा स्वाभाविक, निरूप्याधिक सम्बन्ध को "व्याप्ति" मानते हैं। इसके बाद पूर्वमीमांसा ^{की अनुमानविषयक धारणा लगभग न्याय-वैशेषिकों} के समान ही होने के कारण उसका पृथक् से निरूपण नहीं किया गया है।

प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा के अनुमानविषयक विचारों की तुलना की गई है। यहाँ भी क्रमशः दोनों की प्रमाणविषयक मान्यताएँ, प्रमेय विषयक मान्यताएँ, प्रत्यक्ष-प्रमाण का स्वरूप, अनुमान-प्रमाण का स्वरूप, हेतुरूप, हेतुवाभास, अनुमान के भेद आदि के विषय में तुलना करते हुए व्याप्तिविषयक विचारों की विशद रूप में तुलना की गई है। वास्तिक व नास्तिक दर्शन के अनुसार व्याप्ति का स्वरूप, व्याप्ति-ग्रहण का उपाय आदि से सम्बद्ध विचारों की तुलना की गई है।

तत्पश्चात् चतुर्थ अध्याय में "रत्नकीर्ति" से पूर्व व्याप्ति के सम्बन्ध में जो वास्तिक व नास्तिक दर्शनों के बीच विवाद था, उसका वर्णन किया गया है। रत्नकीर्ति से पूर्व दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि जो महान् बौद्ध नैयायिक हुए थे, उनके तथा वास्तिक दार्शनिकों के बीच व्याप्तिविषयक विवाद कहाँ तक पहुँचा था ? इसका वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् पञ्चम तथा अन्तिम अध्याय - "रत्नकीर्ति का व्याप्ति-निर्णयः" में रत्नकीर्ति के मूल निबन्ध "व्याप्तिनिर्णयः" की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। रत्नकीर्ति ने किस प्रकार पूर्वपक्ष के मत को उभारते हुए, कुमाराः प्रत्येक मत का ऊँटन दिया है, यह सब इस अध्याय में दृष्टव्य है।

इस प्रकार यदि निष्पक्ष रूप से हम न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा दर्शन और बौद्धों के व्याप्तिविषयक विचारों पर दृष्टिपात करें, तो हमें बौद्धों का मत ही अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है। हाँ, नैयायिक-मत में भी कुछ सार तो है, परन्तु बौद्धों की युक्तियों के आगे नैयायिक-मत का नितहीनता जान पड़ता है। "भूषादर्शन" के आधार पर ही व्याप्ति को मानना तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता। बार-बार देखने पर यह आवश्यक तो नहीं कि हम सही अनुमान ही लगायें ? दूसरे, जो नैयायिक 'उपाधि' को खोजने की बात कहते हैं, वह भी प्रमाता के लिए एक समस्या ही है। कैसे ज्ञात हो कि उपाधि है या नहीं ? "उपाधि" का प्रतीक लगाना अत्यन्त टैडी खीर है। दूसरी ओर बौद्धों का तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिनिमित्तक व्याप्ति को मानना कुछ हद तक सही है भी और नहीं भी। "तादात्म्य" के आधार पर व्याप्ति कैसे मानी जा सकती है ? "तादात्म्य" होने पर हेतु व साध्य का भेद ही न होगा, अतः एक से दूसरे का अनुमान कैसे किया जा सकता है ?

~~"तादात्म्य" होने पर हेतु व साध्य का भेद ही न होगा, अतः एक से दूसरे का अनुमान कैसे किया जा सकता है?~~ कार्य-कारण के आधार पर व्याप्ति का निश्चय कहीं सही होता है, कहीं गलत भी हो जाता है। कहीं हम कार्य को देखकर किसी कारण का अनुमान करते हैं, लेकिन वह कारण नहीं होता, कोई और भी हो सकता है।

अतः निष्कर्ष के रूप में हम यही कहेंगे कि प्रत्येक मत में दोष व गुण तो होते ही हैं। सर्वथा निदोष व सर्वथा दोषी तो कोई भी नहीं होता। जैसा कि सांख्यदर्शन में भी बताया गया है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु "सत्त्व, रजस्, तमस्" इन तीन गुणों का समवाय है। किंतु फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि दोनों दर्शनों $\{ \text{आस्तिक व नास्तिक} \}$ की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अनुसार उनके विचार उचित ही हैं, क्योंकि यदि दोनों दर्शन अपने-अपने मत से हटने की चेष्टा करते हैं, तो उनके मूल दार्शनिक सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेंगे। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल बौद्धों को व्याप्ति को तादात्म्य बतवा तदुत्पत्तिनिमित्तक तथा नैयायिकों-वैशेषिकों तथा पूर्वमीमांसकों को स्वाभाविक सम्बन्ध, निरुपाधिक सम्बन्ध, भूतदर्शनजन्या मानने को बाध्य होना ही पड़ता है।

ग्रन्थ-सूची
=====

1. "रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः" - रत्नकीर्ति - स० प्रो० अनन्तलाल ठाकुर, पटना से, 1975 में प्रकाशित, द्वितीय संस्करण ।
2. "ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली" - ज्ञानश्रीमित्र - स० प्रो० अनन्तलाल ठाकुर, पटना से, संवत् 2016 में प्रकाशित ।
3. न्यायबिन्दुटीका - धर्मोत्तर - स० श्री निवास शास्त्री, साहित्य-भण्डार, मेरठ से, 1975 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।
4. न्यायदर्शनम् - गौतम - अनन्तलाल ठाकुर, "मिथिला इंस्टीट्यूट सीरीज" में 1967 ई० में मुद्रित ।
5. "प्रमाणवार्तिक" मनीरथनन्दी टीका - धर्मकीर्ति, स० - स्वामी द्वारिका-दास शास्त्री, वाराणसी से, 1968 में प्रकाशित ।
6. "वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन" - श्री निवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र से 1968 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।
7. भारतीय दर्शन शास्त्र - न्याय-वैशेषिक - धर्मोदनाथ शास्त्री, मोतीलाल-बनारसीदास, बनारस से 1953 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।
8. "द्विटीयार्थ इण्डियन रीएलिज्म" - धर्मोदनाथ शास्त्री, आगरा विश्व-विद्यालय, आगरा से 1964 में प्रकाशित ।
9. "बुद्धिस्ट लॉजिक" - शचेरबात्स्की - डॉवर पब्लिकेशन, यूनाइटेड किंगडम, न्यूयार्क से 1962 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।
10. "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी" वॉल्यूम 2 - डा० उमेश मिश्र अलाहबाद से 1966 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।
11. "ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक" - सतीशचन्द्र विद्याभूषण-कलकत्ता से 1970 में प्रकाशित - प्रथम संस्करण, पुनर्मुद्रण - दिल्ली में 1971 तथा 1978 में ।

- 12° भारतीय-दर्शन-उपेक्षाभिध-लक्षण से 1970 में प्रकाशित, तृतीय संस्करण।
- 13° भारतीय-दर्शन-चट्टोपाध्याय व दत्त-पटना से प्रकाशित।
- 14° भारतीय-दर्शन-कलदेव उपाध्याय
- 15° "धर्मोत्तरप्रदीप" - श्री दुर्लभ मिश्र - श्री-श्री दल-मुकुभाई मालवा निया-पटना से प्रकाशित ।
- 16° "श्लोकवा तिकम्" - कुमारिलभट्ट - श्री दारिका दास शास्त्री, वाराणसी, 1978°
- 17° "हण्डियन फिलोसोफी" वाल्युम 2° - श्री राधाकृष्ण लन्दन, 1923, प्रथम संस्करण ।
- 18° "हिस्ट्री ऑफ हण्डियन फिलोसोफी" - वाल्युम 1°
श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, कैम्ब्रिज से 1957 में पुनर्मुद्रित ।
प्रथम बार मुद्रित 1922 में ।
- 19° प्रशस्तिमादभाष्यम् - प्रशस्तिमादाचार्य - श्री - गोपीनाथ कविराज, चौक बा संस्कृत मीरगि, बनारस से 1930 में प्रकाशित ।
- 20° "फ्रेमेट्स प्लाम दिङ्नाग" - एच. एन. रेन्जल, रायल एशिया टिक सोसाइटी, लन्दन से 1926 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।
- 21° श्लोकवा तिकं का शिष्टान्वितम् ।

